# गुरु दक्षिणा नाटकम्

डा० गौरीनाथ मिश्र 'भास्कर'

## पुस्तक परिचय :

संस्कृत नाट्य साहित्य में गुरु दक्षिणा के विषय वस्तु का विवेचन महाकवि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य में तो था ही, परन्तु इसमें गुरु दक्षिणा नाटकम् का मात्र महत्व ही नहीं, बल्कि गुरु एवं शिष्य के हार्दिक सम्बन्ध का प्रदर्शन भक्ति रस के माध्यम से समाज के बीच परिलाक्षित करना ही मुख्य उद्देश्य है। प्राचीन काल में ऋषिकुल के छात्र की भक्ति किस प्रकार थी? गुरु के प्रति शिष्य का हार्दिक समर्पण किस प्रकार का था। इसका सम्यक् विवेचन उपस्थित है।

# गुरुदक्षिणानाटकम्

लेखक

**डॉ० गौरीनाथ मिश्र 'भास्कर'**

प्राचार्य

श्री सरस्वती आदर्श संस्कृत महाविद्यालय

बेगूसराय [ बिहार ]

प्रकाशक

**भारतीय विद्या प्रकाशन**

दिल्ली * वाराणसी

( भारत )

प्रकाशक :—
भारतीय विद्या प्रकाशन
१ यू० बी० जवाहर नगर, बेंग्लो रोड, दिल्ली–११०००७ फोन–२५२१५७०
पो० बा० ११०८ कचौड़ीगली, वाराणसी–२२१००१ फोन–६५९६५

प्रथम संस्करण : १९९०
ISBN : 81-217-0073-6
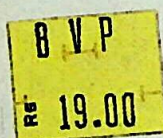
[ मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, शास्त्री भवन नई दिल्ली द्वारा आर्थिक सहयोग से प्रकाशित ]

मुद्रक
शिव प्रेस
प्रह्लादघाट, वाराणसी

# नाटकपात्रनामावली

१—सूत्रधारः
२—नटः
३—नटी
४—बटवः ( शिष्या )
५—कौत्सः ( वरतन्तोःमुख्य शिष्यः )
६—सुशीलः ( शिष्यः )
७—कमलेशः ,,
८—श्रीपतिः ,,
९—दीनबन्धुः ,,
१०—शारदानन्द ,,
११—वरतन्तुः ( महर्षिः )
१२—पञ्चच्छात्राः
१३—वनदेवः
१४—वनदेवी
१५—सरयूः
१६—एकश्छात्रः
१७—रघुः ( राजा )
१८—विदूषकः ( रघोः )
१९—मन्त्री ( रघोः )
२०—प्रतीहारी
२१—सेनापतिः ( रघोः )
२२—सारथिः
२३—कुबेरः
२४—प्रधानमन्त्री ( कुबेरस्य )
२५—उपमन्त्री ,,
२६—बृहस्पतिः
२७—दौवारिकः ( कुबेरस्य )
२८—नारदः
२९—वशिष्ठः
३०—वशिष्ठशिष्याः
३१—अयोध्यावासिनः

# प्रस्तावना

वस्तुतः संस्कृत नाट्य साहित्य में गुरुदक्षिणा के विषय वस्तु का विवेचन महाकवि कालिदास कृत रघूवंश महाकाव्य में तो था ही। परन्तु इसमें गुरुदक्षिणा नाटकम् का मात्र महत्व ही नहीं, बल्कि गुरु एवं शिष्य के हार्दिक सम्बन्ध का प्रदर्शन भक्ति रस के माध्यम से समाज के बीच परिलक्षित करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है। प्राचीन काल में ऋषिकुल के छात्र की भक्ति किस प्रकार की थी ? गुरु के प्रति शिष्य का हार्दिक समर्पण किस प्रकार का था ? इसका सम्यक् विवेचन उपस्थित है। साहित्य तो समाज का दर्पण होता ही है। इस घटना के माध्यम से तात्कालीन सामाजिक स्थिति को द्योतन भी होता है, कि शिष्य थोड़ा ही सा हठ दिखलाने का परिणाम क्या भोगे ?

जब "गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुदेवो महेश्वरः"

हम मानते हैं, तो उनकी आज्ञा का उल्लंघन का दुष्परिणाम दिखाना कवि का मुख्य अभिप्राय रहा है।

जब गुरु ने कह दिया, कि

"समे चिराया चिरायत्त्सलिलोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ।,'

तब वह छात्र उनकी आज्ञा को खिलवाड़ समझा।

यह तो शिष्य की गलती थी।

अब दूसरे पक्ष में गुरु का शिष्य के ऊपर कठोरता दर्शाना यह सिद्ध करता कि उस समय, गुरु अपना अध्यापन शुल्क कितनी उदात्त भावना को ध्यान में रखकर लेते थे, कि छात्र को दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती थी। जब गुरु की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है।

"गृह्णाति छात्रस्य दोषान् इति गुरुः"

अर्थात् जो छात्र के दोषों को निगल जाय, वह गुरु कहलाता है। छात्र का दोष निगीरण नहीं होने से गुरु की गरिमा नष्ट होती सी प्रतीत हो रही है। साहित्यकार युग निर्माता होता हैं। युगनिर्माण के लिए रीति बनाता है। ज्ञान के बिना मानव पूंछ एवं विषाण विहीन पशु है साहित्यकार ऐसे पशु के पशुत्व का अपहरण कर दैवी गुणों से परिपूर्ण कर ख्यातिमान बनाने की कोशिश करता है। महाकवि कालिदास को यह कीर्ति प्राप्त है। जिन्होंने गुरु के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

"शीश दिए तो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।"

इस दृष्टि से ज्ञान पाकर मानव जितना सुख एवं शान्ति का अनुभव करता है उस परिणाम में यदि वैसी अमूल्य विद्या प्राप्त करने के लिए अगर कौत्स को भीख ही मांगनी पड़ीं तो क्या कुछ नहीं करनी पड़ी।

आखिर धनी तो अनायास गुरुदक्षिणा चुका ही देता है, लेकिन हार्दिक समर्पण तभी देखा जाता है जब वस्तु के अभाव में भी पूर्ति के लिए लालायित ही नहीं, बल्कि पूर्ति कर ही दे। गुरु भक्ति ही साक्षात ईश्वर भक्ति है। कोई मानव कुछ नहीं करता, सारा कार्य प्रकृति सम्पादन करती है, केवल ख्याति मानव को ही मिलती है।

जब कौत्स सोचने लगा "किं करिष्यामि, क्व गच्छामि ? तब वनदेवी उसे शान्त्वना प्रदान करती है। इससे यह सिद्ध होता है, कि प्रकृति हर परिस्थिति में धर्मात्मा आदमी की सहचरी होती है। जो प्रकृति के सच्चे पुजारी होते हैं, प्रकृति के एक-एक कण उसकी मदद करते हैं, जो पापी होते हैं, उनका सहोदर भी छोड़ देता है। उदाहरण स्वरूप राम को लिया जाय राम धर्मात्मा थे सीता के वियोग में जंगल में हरिणी एवं लता सीता का पता संकेत के माध्यम से बताती थी।

"अदर्शयद् वक्तुमशक्नुवत्यः, शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः।"

यद्यपि लता बोलने में असमर्थ थी तो भी सीता का पता बताने के लिए दक्षिण दिशा को झुक जाती थी।

कौत्स भी प्रकृति का सहयोग पाकर ही १४ करोड़ स्वर्णमुद्रा देने में सफल हुए। दानवीर का दानवीरत्व खण्डित नहीं होता है।

"जो इच्छा राखहि मनमाहीं, । प्रभु प्रताप कछु दुर्लभ नाहीं ॥"

'यं यं चिन्तयते कामं, तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।"

रघु के साथ यह बात होती है। यद्यपि विश्वजिति यज्ञ में सारे खजाने दान में दिए गए हैं। तो भी उसे दान करने की इच्छा समाप्त नहीं हुई है। रघु धन से उस समय खाली है, दान करने की प्रवृत्ति से नहीं।

इस प्रकार की अलौकिक दानशीलता तो अनुपम है।

"कर्णस्त्वचं शिविर्मांसं, जीवं जीमूतवाहनम्।
दधौ दधीचि अस्थीनि, किं अदेयं महात्मनाम् ॥"

ये सब दानी तो, स्वस्थावस्था में दानवीरता की रक्षा किए, परन्तु जो रघु

"मृन्मये वीतहिरण्मयत्वात्"

इस अवस्था में भी

"द्वित्राण्यधन्यहंसि सोढ़मर्हं, त्यावदयते साधयितुं सदर्थम्।"

यह कहकर उस भटकते अधीर छात्र को सन्तोष के मांगलिक जल से स्नान कराता है। धन्य है, ऐसा दानी जो लूटकर भी दान करने की प्रवृत्ति रखकर एक असहाय छात्र की सहायता करता है।

इस प्रकार से असहाय छात्रों की सहायता प्रकृति करती है प्रत्येक प्राणी के हृदय में ईश्वर रहते हैं।

"हृदयस्थमनासन्नम्"

रघु को मनोवृत्ति साक्षात् की इच्छा है। जब मानव अपनी शक्ति लगाकर थकते हुए भी कार्यपूर्ति में बाधा देखता है, तो एक अलौकिक शक्ति आकर कल्याण करती है। तब मानव ईश्वरीय शक्ति एवं उसके क्रिया-कलाप का अनुभव करता है। कौत्स इससे वंचित नहीं रहे हैं। ईश्वर भी मानव के अहंकार रूपी दोष को हटाने के लिए ही उसका शक्ति परीक्षण करवा देती है।

गुरु के पक्ष में ही लिया जाय, यदि छात्र ने हठ किया हो तो गुरु का काम छात्र के दोष को निगल जाना है, फिर इस प्रकार की कठोर सजा देना गुरु का दोष नहीं तो और क्या है ? कालिदास ने ऐसे गुरु की शोषण प्रवृत्ति का पर्दाफास किया है।

आज गुरु ३०० रु० मात्र लेते हैं, तो इतना महँगा हो जाता है, उस जमाने में प्रति विद्या १ करोड़ स्वर्ण मुद्रा यह प्राण दण्ड से बढ़कर है।

"वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटिश्चतश्री दश चाहरेति।"

गुरु इस प्रकार कड़ा मूल्य रखकर विद्या विकास में बाधक था।

उदाहरण के लिए तो उस समय गुरु अध्यापन किए भी अँगूठा ही दक्षिणा के रूप में माँग लेते थे। परशुराम जैसे गुरु जो जातिवाद कर कर्ण को विद्या देने के बदले कठोर दण्ड देते हैं। यह सब गुरु का दोष नहीं तो और क्या था ? इस कथा के माध्यम से छात्रों की असीम भक्ति का फल उसकी कीर्ति एवं गुरु का सामान्य हठ के कारण इतना कठोर दण्ड कालिदास ने अपनी तूलिका से तुला के दोनों पलड़ों पर उपस्थापित किया है, कि गुरु की अपेक्षा शिष्य अधिक प्रशंसा का पात्र है।

इससे उस समय की शैक्षणिक परम्परा द्योतन होता है, कि १४ विद्याएँ पढ़ाकर तब छात्रों को घर भेजा जाता था, ताकि गृहस्थाश्रम में आने वाली बाधाएँ उसे न बाधित न कर दे। आज सामान्य शिक्षा पाकर लोग जन संख्या बढ़ाने के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार का कष्ट भोगते हैं। जो छात्र इस प्रकार १४ विद्याओं को पढ़ लेगा, उसे जीवन में कभी दुख का अनुभव ही नहीं होगा।

दक्षिणा शब्द का अर्थ होता है, दाक्षिण्येन दीयते अनया इति दक्षिणा। अर्थात् उदारता पूर्वक जो दी जाय वही दक्षिणा है। यहाँ दक्षिणा शब्द की व्युत्पत्ति की सिद्धि कौत्स करता है।

गुरु यदि हठात छात्र को देने के लिए बाधित कर दे तो दक्षिणा शब्द वहाँ पर अपनी व्युत्पत्ति को खोकर उसकी सत्ता को समाप्त कर देगा।

वरतन्तु को वहाँ कुछ नहीं माँगना चाहिए था।

"अतिशय रगड़ करे जो कोई, अनल प्रकट चन्दन ते होई"।

सामान्य रूप से लोग उस भोले विद्यार्थी पर लांछना लगाकर गुरु के कोप का भाजन उसे बनाकर गुरु के गुरुत्व को बढ़ा देते हैं। शिष्य का अर्थ है, "शासितुं योग्यः शिष्यः" तब तो गुरु उस कौत्स पर शासन नहीं कर सके। यदि शासन करते तो उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर कोरी भक्ति दिखाकर दुख का बोझ अपने ऊपर लेकर भटकता है। यदि वह वास्तव में शिष्य के शिष्यत्व की मर्यादा को रखता तो, गुरु की बात मानकर चुपचाप बैठ जाता।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से गहन चिन्तन करने पर ये सब अमूल्य विचार निकल कर गुरु की मानसिकता का अन्तः सत्य करने में समर्थ होते हैं। कौत्स के लिए धन लाने की इच्छा रखने पर ही धन की वर्षा हो जाना यह रघु के लिए प्रकृति का पूर्ण सहयोग द्योतित होता है। कुबेर के धन लूट की तैयारी रघु का सबसे बड़ा त्याग का द्योतन है। रघु के लिए पहला लोकापवाद नहीं ही दें, क्योंकि रघु किसी याचक की याचना निष्फल नहीं की है! यह रघु की दानवीरता में चार चांद लगा देता है। रघु द्वारा सम्पूर्ण धन का दान एवं कौत्स मात्र १४ करोड़ ही लेने की इच्छा यह दाता एवं याचक की अलौकिकता सिद्ध होती है। कोई ऐसा दानी नहीं था जो याचक की याचना से अधिक देने की क्षमता रखे एवं कोई याचक ऐसा नहीं हुआ जो आवश्कतानुसार ही दान लेने का विचार रखे।

गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहार्थी, नृपोऽर्थी कामादधिकःप्रदश्च।"

कौत्स लोभी याचक नहीं महान सन्तोषी याचक है।

सन्तोष का जीवन में सबसे बड़ा महत्त्व है!

सन्तोषामृततृप्तानां यासुखं शान्तिरेव च, नहिं तत् धनलुब्धानां इतश्चेतश्च धावताम्।"

"गोधन गजधन वाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समाना॥"

सन्तोषहीन मानव अत्यन्त दरिद्र हैं।

भिक्षाटन मानव का अन्तिम सहारा है, जो धार्मिक सम्बन्ध जोड़कर आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ होता हैं।

"निष्कृष्ट चाकरी भीख निदान"

यदि भिक्षाटन पर एक लगाया जाए, तो बहुत लोग मर जाएंगे। पुत्र प्राप्ति के लिए सामान्य रीति से वरदान नहीं दी जाती है।

पुत्रम् लभस्वारभगुणानुरूपं, भवन्तभोहयं भवतः पितेव।"

अपने गुण के अनुरूप पुत्र प्राप्त करें। अर्थात् पिता के स्वभाव से भिन्न पुत्र होने पर पिता महान कष्ट का अनुभव कर पुत्र का पुत्रत्व खण्डित पाता है।

ध्यातव्य बातें—

इस प्रस्तावना में घटनानुरूप रघुवंश पंचम सर्ग के श्लोक को उदाहरण रूप में दिया गया है, इसका मतलब यह नहीं, कि रघुवंश के पंचम सर्ग के श्लोकों को ज्यों का त्यों यह कवि उतार कर झूठी प्रशंसा कमाने के लिए मात्र एक ढकोसला खड़ा किया है, ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। हाँ जो मूल घटना है, उसे दिखायो गई है। रघुवंश पंचम सर्ग के भी श्लोक के एक चरण नहीं मिलते हैं, यह तो मिलाने की चीज है।

हाथ कंगण आरसी क्या ?"

घटना में भी कवि मौलिक परिवर्द्धन किए हैं। इसका तपोवन वर्णन कुछ-कुछ अभिज्ञान शाकुन्तलम् के तपोवर्णन से मिलता है। यह कवि अलंकार में भटकाकर वतुस्थिति को गौण कर उपहास का पात्र पाने का अधिकारी नहीं है। अलंकार का स्वाभाविक रूप से आना कोई दोष नहीं है।

नाट्यशास्त्र में नाटक की सम्बन्धी बातों में भरत ने लिखा था।

एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यानिर्वहन्त्यद्भुतम् ॥

यह नाटक भक्ति रस प्रधान है। नाटककार के हृदय में जो भक्ति है, पाठक के हृदय से भी वैसी ही भक्ति हो, यही नाटककार का उद्देश्य है। बहुत पुस्तक में ऐसी कमजोरी होती है, कि पुस्तक के अन्दर सामान्य बातें रहती हैं, प्रस्तावना में चकमा देने के लिए वाक-चिक्य युक्त बातों की वर्षा कर दी जाती है, ताकि प्रस्तवना से आकृष्ट होकर विद्वान भ्रमित होकर उसे स्वीकार कर लेते हैं, बाद में वह पुस्तक अनुपयोगी सिद्ध हो जाती है, उसमें लगी लागत व्यर्थ होती है। उस वंचकता का यहाँ पूर्ण अभाव है। गम्भीर चिन्तक इसकी परीक्षा अवश्य करेंगे ही विश्वास है। इस संसार में त्रुटि विहीन प्रकृति को छोड़कर कुछ नहीं है, इसमें भी त्रुटि होना सामान्य सी बात है। विद्वज्जन इसकी त्रुटि दर्शाकर नवीन मार्गदर्शन कर महान पुण्य के पात्र होंगे।

इसके प्रकाशन में हरिद्वार ऋषिकुल विद्यापीठ ब्रह्मचर्याश्रम के स्नातक तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार के स० शिक्षा सलाहकार ( संस्कृत ) डा० रामकृष्ण शर्मा तथा पं० श्री चित्रधर झा व्याख्याता संस्कृत महाविद्यालय बेगूसराय का जो भी सहयोग संभव हुआ है इसके प्रति अत्यंत अभारी हूँ। जिनके मार्ग दर्शन से भारत सरकार द्वारा अनुदान मिल सका अन्यथा इसका प्रकाशन संभव नहीं होता।

'गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥"

वशंवदः

( डा० गौरीनाथ मिश्र 'भास्कर' )

ॐ

# गुरुदक्षिणा-नाटकम्

## प्रथमोऽङ्कः

### नान्दी

प्रत्यूषे दधिमन्थनं विदधतीं तिर्यङ्मुखीं मातरं-
पापुस्र्पायमहो ! महोत्सविदृशा स्वीयाननेन्दोः प्रभाम् ।
सम्पश्यद्-वचनाऽतिगां मुदमितं भूत्वा स्वयं तन्मयं
नन्द-प्राङ्गण-रिङ्गणं किमपि मे हृत्प्राङ्गणे रिङ्गतु ॥१॥

---

महानटं नमस्कृत्य बोधनाय क्वचित्क्वचित् ।
बालानां गौरीनाथेन टिप्पणी प्रविधीयते ॥
यद्ध्यानेन न "कौत्सपात्र" मखिले कर्त्तव्यमार्गे कदा-
ऽप्यासंसारमुदा-"रघु-"छटयशसा युक्तो जनः स्यात्सदा ।
सन्तुष्यद्-"गुरुदक्षिणा"-ऽऽश्रयवशादन्ते पुनर्मुक्तिमान्-
नव्यं नो विदधातु सन्ततमदो भव्यं भवान्या वपुः ॥२॥
कल्याणं कुरुतान्निशाकरकला यस्योत्तमाङ्गस्थिता
स्वर्द्धन्याः पतिताऽच्छफेनशकलभ्रान्ति सदा यच्छति !
देवोऽसौ दयिताऽर्द्धदेहसुमिलद्देहाऽर्द्धभस्मच्छटा-
क्षुण्णाऽर्हद्दिवभावकाऽतिपटलः कश्चिज्जटालाऽग्रगः ॥३॥

---

नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण है ।

दधिमन्यन करती हुई, चन्द्रप्रभा देखती हुई माता यशोदा को देखकर जो कृष्ण भगवान हाथ-पैर के सहारे नन्द के आँगन में चल रहे हैं ॥१॥

वे मेरे हृदयरूपी आँगन में भ्रमण करें ।

शिवजी को नमस्कार कर बच्चों के ज्ञान के लिए मैं गौरीनाथ टिप्पणी तैयार करता हूँ ।

राजा रघु यशस्वी हैं । गुरुदक्षिणा के सहारे पुनः मुक्त हुए हैं । जिसके ध्यान से कौत्स कर्त्तव्यमार्ग पर हैं ।

भवानी का वह शरीर आपका कल्याण करे ॥२॥

चन्द्रमा की कला कल्याण करे । जिसके उत्तमाङ्ग ( शिर ) पर स्थित है । वह चन्द्रमा को देखने से स्वच्छ फेन के खण्ड की भ्रान्ति हो जाती है । भस्म की छटा से जिसके देह स्वच्छ प्रतीत होते हैं । उस जटाधारी की कृपा से कल्याण हो ॥३॥

नान्दयन्ते—

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण ( पुष्पाञ्जलिं विकीर्य सभां विलोक्य ) अहो !

उत्का दर्शकमण्डली परिषदं सम्प्राप्य संशोभिता।
प्रेक्षोत्फुल्लविलोचनाऽञ्चितमुखी रङ्ग-प्रसङ्गेऽधुना ॥

नटः—( आकर्णयन्नेव प्रविश्य ) भाव ! दर्शकमण्डल्या नव्यनाटकदर्शनायेव ममाऽप्यद्याऽमरभारतीनिबद्धाऽऽभिनवाभिनयप्रयोगचन्द्रचन्द्रिकायै समुत्कण्ठतेतरां चेतश्चकोरः

सूत्रधारः—

तत्तस्या अनुरञ्जनाय नितरां स्वान्ते निधाय त्वरां
सोल्लासं प्रतिपात्रमत्र परमो यत्नः समाचर्यताम् ॥४॥

नटः—परं प्रयत्नपरायणाः सन्ति सर्वेऽभिनेतारः, किन्तु—

यादृशी स्यात्सभा तादृग्भवेदभिनयोऽपि नः।
बुद्ध्वैवं समपेक्षन्ते सुव्यवस्थितसाधनाः ॥५॥

सूत्रधार ः—( स्वगतम् ) अहो ! सामग्रीसमग्रीकरणस्य नैपुण्यम्, अहो ! अभ्या-, सस्य पाटवम्, यदेते प्रेक्षकाऽनुकूलमेव यं कञ्चिदभिनयं प्रदर्शयितुं बद्धपरिकराः सन्ति नाधु साधु ( विलोक्य प्रकाशम् ) मारिष ! अद्य खलु सभायां गुरूणां शिष्याणाञ्च मण्डलानि विशेषतो विलोक्यन्ते तदिदानीं गुरुशिष्यकथानिबद्धो गुरुदक्षिणाऽभिधान एवाऽभिनयः प्रयुज्यताम्, स हि सात्विकसम्पदा समर्पयेत्किमपि कौतुकमेतेभ्यः परम-सात्विकेभ्यः।

---

नान्दी के अन्त में सूत्रधार कहता है—अधिक कहना ठीक नहीं ( पुष्पाञ्जलि को फैलाकर सभा को देखकर )

अहो ! खिले हुए फूल के समान नेत्र एवं मुखवाली रङ्ग प्रसङ्ग में दर्शक मण्डली की सभा में उपस्थित होकर सुशोभित हों !

नट—( सुनते हुए प्रवेश कर ) भाव ! दर्शकमण्डली से नए नाटक को दिखाते हुए मेरे भी आज अमर भारती से निबद्ध नए अभिनय प्रयोग को देखें। जैसे चकोर को चित्त चन्द्रिका का देखने के लिए उत्कण्ठित होता है।

सूत्रधार· प्रत्येक मात्र यहाँ प्रयत्न करें।वह नाटक उसके मनोरञ्जन के लिए अपने भीतर उल्लास प्रदान करें।

नट—अत्यन्त प्रयत्न में लीन हैं। सभी अभिनेता· किन्तु, ऐसी सभा में अभि-नय होता है। सुव्यवस्थित साधन जानकर अपेक्षा होती है ॥५॥

सूत्रधार—( अपने मन में ) अहो ! सामग्री की तैयारी करनी है। अभ्यास में निपुणता है। ये देखने वाले अनुकूल हैं जो कोई अभिनय दिखाने के लिए बद्ध·

नटः—ननु भोः ! सत्स्वपि नव्यप्राचीनेषु नानाऽभिनयेषु किमिति सात्त्विक एव भवति भवतो भावाऽनुबन्धः ?

सात्त्विकेभ्योऽपि तेभ्यः किं सम्मोदं न ददाति सः
राजसः, किं नहि क्षौद्रं श्रोत्रियेभ्योऽतिरोचते ? ।।६।।

सूत्रधारः—आः किं भणसि ?

सात्त्विकस्तात्त्विकस्तावद्बुद्धिशुद्धिविधायकः ।
अतात्त्विकाः प्रधावन्ति राजसे तामसेऽपि वा ।।७।।

अपि च—

नव्योद्बोधविधायको यदि भवेच्चेत्सात्त्विकः कोऽप्यहो !
संसेव्योऽभिनयः स एव न पुनर्वा राजसस्तामसः ।।
किं धात्रीफल एव सत्यहरहो दुर्व्याधिबाधक्षमे ।
सङ्ग्राह्यं बदरीफलं वद भवत्यार्त्तिप्रदं पण्डितैः ।।८।।

नटः—उचितमालोचितम्, ननु भोः पृच्छापरवशो भवामि, कः पुनरेतस्याऽस्ति प्रणेता ?

सूत्रधारः—न जानिषे ?

दुःखहरणमिश्रोत्तमविदुषो राजेश्वरीतिसद्देव्याः ।
सूनुर्मिथिलावासी विप्रो गङ्गेशमिश्रोऽसौ ।।९।।

---

परिकर हैं ।, वाह वाह ( देखकर प्रकट होकर ) मारिष ! आज निश्चय है । सभा में गुरु और शिष्यों के समूह विशेषकर देखते हैं ।

इस समय गुरुशिष्य कथा निर्बंद्ध गुरुदक्षिणा नाटक का करें । सात्विक सम्पत्ति से समर्पित करता है ।

नट—हे ! नए एवं प्राचीन नाना प्रकार के अभिनयों में सात्विक ही होता है । आपका भाव अनुबन्धित है ।

सूत्रधार—आः क्या कहते हो ?
आपकी बुद्धि को शुद्ध करने वाला सात्विक एवं तात्विक है ।
अतात्विक रजोगुण एवं तमोगुण में है ।।७।।
नवीन नाटक देखें जो आँवला का फल व्याधि को दिन व दिन नष्ट करता है ।
बैर पण्डितों को दुख प्रदान करने वाला है कहें ।।८।।
नट—ठीक ही कहा है ।, हे अपरवश होता है । पुनः इसके प्रणेता कौन हैं ?
सूत्रधार—क्या नहीं जानते हो !
इस नाटक के रचयिता पं० गंगेश मिश्र हैं । पं० दुःखहरण मिश्र एवं राजेश्वरी के ये पुत्र हैं । ये मिथिलावासी हैं ।।९।।

नटः--

चिन्तामणेरहो ! चिन्तामणेरिव विधायकः ।
नायकः सुबुधाग्रचाणामुपाध्यायः किमुच्यते ? ॥१०॥

सूत्रधारः--किं न्यायचिन्तामणिनिर्माता वाचस्पतिमिश्र इव मिथिलामहीमण्डनं प्रायः स्मरणीयः श्रीगङ्गेशोपाध्यायः ?, नहि-नहि, अयन्तु तद्रचितन्यायचिन्तामणिचिन्ताऽब्जचञ्चरीको वलियासेनरसामवंशजन्मा दरभङ्गामण्डलान्तर्गत--हरिपुरवख्शीटोलवास्तव्यस्तदपरः ।

नटः—( स्मृतिमभिनीय स्मृतं स्मृतम्, अयमेव रघुचरितनाटकस्याऽपि निर्माता, तदेष साध्वीयान्कविः, तदधुना तत्प्रणीतं गुरुदक्षिणाख्यमेव नाटकं सभायाः पुरस्तादुपायनीकर्त्तुं युक्ततमम् ( आकर्ण्य कर्णं दत्वा ) अये ! श्रूयते तावत्सतालबद्धमञ्जुमञ्जीरसिञ्जितं श्रुतिसुधास्यन्दि गीतम् ।

सूत्रधारः—( अवधाय ) अहो !

अनुसरति स्वरबद्धं रागं तालञ्च नौनुरो नादः ।
नन्वनुहरति मनो मे स्वनुरणनं निर्भरं तस्य ॥११॥

नटीः—( नेपथ्यनिगमस्थानभागप्य गायति )
वसन्दे सुहं चारु केणत्ति हे अं )

---

अहो ! चिन्तामणि की ये सुबुद्धिमानों में अग्रणी उपाध्ययय हैं ।

सूत्रधार-- क्या न्यायचिन्तामणि के निर्माता वाचस्पति मिश्र की तरह मिथिला की शोभा के वर्द्धक प्रातः स्मरणीय श्री गङ्गेशोपाध्याय हैं ?

नहीं-नहीं उनके द्वारा रचित चिन्तामणि चिन्ताकमल के चञ्चरीक वलियासेनर साम वंश में उत्पन्न दरभङ्गा जिसमें हरिपुर वख्शीटोल के निवासी हैं ।

नट—( स्मृति का अभिनय कर स्मरण करो, स्मरण करो यही रघुचरित नाटक के निर्माता हैं । तब इस समय उसके द्वारा रचित गुरुदक्षिणा नामक नाटक सभा के सामने उपयुक्त है । ( सुनकर कान देकर )

हे ! सुना जाता है ।

अये—सुना जाता है । ताल लय बद्ध सुन्दरमञ्जीर से सिञ्जित कान को अमृत ( सुख ) प्रदान करने वाला गीत ऽ

मेरे मन को प्रसन्न करने वाला उसका राग है ।

स्वरबद्ध राग और ताल है ॥११॥

नटी पर्दे के पीछे आकर गाता है ।

हे प्रेयसी को मौके का ज्ञान है ।

नटः—( अवदधत् ) नूनमनूनं सा मे प्रियतमैव पारिषदाननुरञ्जयितुं नृत्यन्ती गायन्ती समायाति, अहो ! अवसरपरिज्ञानं प्रेयस्याः ।

सूत्रधारः—( पुनरवधाय ) अये ! तदिदं वसन्तर्तुकौतुकमुपक्रमते गीतम्, तदतिप्रियं मे यतः—

> ऋतुराज प्रसङ्गोऽसौ शृंगाराऽऽसङ्गसुन्दरः ।
> मामकीनमतः स्वान्तं नितान्तं तमपेक्षते ॥१२॥

नटी—( पुनस्तावदेव गायति )

सूत्रधारः—आर्ये ! साधु गायसि, परमतः परं संस्कृतमाश्रित्य गीयताम्, संस्कृतप्रियाहीदानीन्तना जना नाभिनन्दिष्यन्ति प्राकृतम् ।

नटी—अहो ! साधु बोधिताऽस्म्यार्येण, साम्प्रतं हि प्रातः स्मरणीयानां स्वर्गीय श्रीमत्कर्मचन्द्रमोहनदासगांधी-जवाहरलाल-राजेन्द्रप्रसादप्रभृतीनां विमलमतीनां पुरुषपुङ्गवानां स्वराज्यसम्पदे पदे-पदे प्राक्प्राणानपि निस्त्राणं तृणीकुर्वतां स्वदेशसेवाश्रमतपसा सैन्धव-सिन्धु-ग्रह-चन्द्र १९४७ मितेस्वीवर्षेऽगस्तमासीयपञ्चदशदिनाङ्के प्राप्ते स्वराज्यसुसंस्कृतं भारतीयं शासनमपि सर्वथा संस्कृतमेवाभिनन्दति, प्रतिराजकीयकार्यालयं प्रतिविद्यालयं प्रतिधूमयानागमनिर्गमस्थानं प्रतिनगरं प्रतिराजमार्गपार्श्वं भारते सम्प्रति सर्वत्र सूचनाफलकोल्लिखिताः संस्कृतस्यैव शब्दाः शोभन्ते ( इति तदेव संस्कृतमाश्रित्य गायति )

---

नट—निश्चित निश्चित प्रियता को ही सभा में आनन्द देने के लिए नाचती हुई एवं गाती हुई आती है ।

सूत्रधार—वसन्त ऋतु में गीत सुनने की उत्कण्ठा जागती है ।

वसन्त का प्रसङ्ग है । शृङ्गार रस की अपेक्षा होती है ॥१२॥

नटी—प्रवेश कर पुनः गाती है ।

सूत्रधार—आर्ये ! अच्छा गाती हो, संस्कृत में गावें ।

प्राकृत को अभी लोग पसन्द नहीं करेंगे ।

नटी—अहो ! वाह प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय कर्मचन्दगान्धी-जवाहरलाल-राजेन्द्र प्रसाद आदि स्वच्छ बुद्धि वाले पुरुष श्रेष्ठ अपने राज्य सम्पत्ति पर पग-पग पर पहले प्राणों को घास की तरह समझते हुए अपने देश सेवा तपस्या सैन्धव-सिन्धु-ग्रह-चन्द्र ( १९४७ ) १५ अगस्त को स्वतन्त्र हुआ ।

प्रत्येक राजकीय कार्यालय प्रति विद्यालय प्रति स्टेशन प्रति शहर प्रत्येक राजमार्ग ( सड़क ) भारत में इस समय सभी जगह सूचनाफल लिखित है । संस्कृत के ही शब्द इन सवों पर सुशोभित होते हैं ।

वसन्त यह संस्कृत में गाती है ।

वसन्ते सुखं चारु केनेति हेयम् ?

सूत्रधारः—( स्वगतम् ) अहो ! सुगीतेनानेन संस्कृतगीतेन प्रगीतमपि प्राकृतं गीतम् पराजितम् ।

नटीः—सस्मितम् ।

सुगुञ्जत्यमन्दं भ्रमद्भृङ्गवृन्दं,
मनोज्ञं मरन्दं निपीयातिपेयम् । वसन्ते०

इदं सौरभैर्भूरि पूर्णं प्रसूनं,
सदवैतदीयं मुदा संश्रयेयम् । वसन्ते

अयं वाति वातो वितन्वन्प्रसूनात्,
परागं समानीय मन्दं सुनेयम् । वसन्ते०

रसालो रसालो रसाऽऽलोललोकः,
प्रियालोकनैर्क्रप्रियः किं विधेयम् । वसन्ते०

अमुष्मिन्वसत्यल्प एव प्रवासे,
पिकध्वानमाकर्ण्यं कर्णातिपेयम् । वसन्ते०

( इति गायन्त्येव गन्तुं प्रवृत्ता )

सूत्रधारः—अहो ! महोत्तमं गीतं गीतम्, परमार्य ! अन्यदपि गीयताम् ।

नटीः—किमन्यदाज्ञाप्यते ?

---

वसन्त में सुख कौन छोड़ता है ।

सूत्रधार—( मन ही मन ) अहो ! संस्कृत का गीत प्राकृत गीत को पराजित कर दिया है ।

नटी—मन्दमुस्कान के साथ ।

भौरों के समूह तेजो से गूंज रहें हैं । सुन्दर मरन्द को पीते हैं ।

फूल खिले हैं । हमेशा प्रसन्न करते रहते हैं । वसन्त में ......

तीव्र गति से हवा बह रही है । पुष्प की सुगन्ध फैल रही है ।

हवा पराग को भाती है । वसन्त में ....

आम की सुगन्ध फैल रही है ।

कोयल की ध्वनि कर्णपेय है ।,

यह गाती हुई जाने के लिए तैयार है ।

सूत्रधार—अहो यह वस्तु अच्छी गीत ही अन्य भी गायें ।

नटी—अन्य क्या कहते हैं ?

सूत्रधारः—ननु वसन्तमहोत्सव इवाऽधुना भारते प्राप्तस्वराज्यमहोत्सवोऽपि मानयितव्यः।

नटी—अवश्यमवश्यम्—

अधुना भारतवर्षे स्वराज्यसम्पदोऽस्याः परिप्राप्तौ।
सुरगिरि साधुकथायाः कोऽक्ति महोत्सवोऽन्योऽभिनयात्॥

( नेपथ्ये ) अरेरे मृगशिशवः ? इत इतो गच्छत।

सूत्रधारः—( समाकर्ण्य ) ननु विदितवृत्तान्तैः पात्रैरभिनयः प्रस्तुत एव।

नटः—सत्यं तदनुसारेणेमे मुनिवटवः सामयान्ति, तत्सत्वरं गन्तव्यन्तावन्नेपथ्य-सज्जीकरणाय ( इति निष्क्रान्तौ तौ )

इति प्रस्तावना , प्रथमं दृश्यम् )

*

स्थानं वनम्। ततः प्रविशन्ति केशरिस्तनन्धयैः सह सङ्क्रीडद्भिर्मृगशिशुभिः समन्विताः कक्षलम्बितकरण्डाः शैक्षाविरतन्तुमहर्षिशिष्याः सुशील दीनबन्धु-भवनाथ-जयदेव रुद्रधरनामानो वटवः,

वटवः—(मृगशिशून्प्रति) अरे रे मृगशिशवः! यदि यूयं केसरिकिशोरकैः सह क्रीड़ने संलग्मनास्तद्वयमपि क्रीड़ाम एव (इति तेः सह क्रीडित्वा परिक्रम्य निष्क्रामन्ति जवनिकापतनमुत्थानञ्च, स्थानं वनम्—एकस्य वटवृक्षस्य तले कौत्स-श्रीपति-कमलेश-

---

सूत्रधार—वसन्त महोत्सव की तरह इस समय भारत में प्राप्त स्वराज्य महोत्सव भी मनाना चाहिए।

नटी—अवश्य, अवश्य।

इस समय भारतवर्ष में अपने राज्य सम्पत्ति की प्राप्ति में सुन्दर कहानी क्या हो ? अन्य अभिनय से महोत्सव क्या है ?

नेपथ्य में—अरेरे मृग बचे उधर जाओ।

सूत्रधार— (सुनकर) ज्ञात कहानी के द्वारा पात्रों से अभिनय प्रस्तुत है।

नटी—सत्य ही इसके पीछे मुनि शिष्य आते हैं।

शीघ्र ही सजनाद्यजनों जाना चाहिए।

ये दोनों बाहर निकल गए।

यह प्रस्तावना है। प्रथम दृश्य समाप्त।

वन का स्थान है इसके बाद वरतन्तु महर्षि के शिष्य शिशुओं से युक्त होकर खेलते हैं। सुशील-दीन-बन्धु-भवनाथ-जयदेवरुद्रधर के नाम के ब्रह्मचारी हैं।

ब्रह्मचारी—( मृगशिशु के प्रति ) अरे रे मृग के बच्चे यदि तुम लोग सिंह के बच्चों के साथ खेलने पर हम लोग भी खेलेंगे। (यह उन सबों के साथ खेलकर

सुबुद्धि-शारदानन्दनामानो महर्षि-वरतन्तु प्रधानतम-शिष्या ब्रह्मचारिणो मिथः समालपन्तः समासीनाः सन्ति ।

(नेपथ्ये) सखे ! सुशील ! यदयेते मृगशिशवः केशरिकिशोरकैः सह यदा क्रीड़ासक्ता न स्युस्तदास्माकमेतावान्विलम्बो न स्यात् ।

कौत्सः—( समाकर्ण्य ) सखे ! शारदानन्द ? शृणोषि समायान्ति वनान्तराद्बटवः ।

सर्वे—शृणोमि त एव समायान्ति ( ततः प्रविशन्ति त एव वटवस्तथाभूताः ) ।

वटवः—(पुरोभूय करण्डानि स्थापयित्वोपविशन्ति )

कौत्सः—वटवः ! चिरायिता यूयम् ?

वटुषु द्वित्राः—आम्, अभूत्कश्चित्कारणविशेषः ।

कौत्सः—कीदृशः खलु !

सुशीलः—एते सारङ्गशिशवः केशरिस्तनन्धयैः सह तन्मातृस्तन्यं निपीयेतस्ततः कूर्दने खेलने च समासक्ता जाताः, तदा वयमपि तैः साकं सल्लग्ना अभूम ।

कमलेशः—किं भोः ! किमेतत्सिंहाऽवटतटे जातम् ?

सुशीलः—ओम् तत्रैव ।

---

घूमकर निकल जाते हैं । परदा गिरता और उठता हैं । वन के स्थान में एक वट वृक्ष के नीचे कौत्स श्रीपति-कमलेश-सुबुद्धि-शारदानन्द नाम महर्षि व्ररतन्तु प्रधानतम् शिष्य, ब्रह्मचारी परस्पर बातचीत करते हैं । एवं बैठे हैं ।

( नेपथ्य में मित्र ! सुशील ! ये मृग के बच्चे सिंह के बच्चों के साथ खेलने में आसक्त नहीं हैं ।

कौत्स—( सुनकर ) मित्र ! शारदानन्द ? सुनते हो जंगल से ब्रह्मचारी आते हैं । सभी सुनता हूँ सभी आते हैं । इसके वन्द प्रवेश करते है ।

ब्रह्मचारी—( सामने होकर )

कौत्स—वटुवो ।

ब्रह्मचारी—दो तीन हाँ कारण विशेष हुआ ।

कौत्स—किस प्रकार का ?

सुशील—ये मृगशिशु सिंह की पत्नी के दूध पीते हुए बच्चे को खींचते हैं । कूदने एवं खेलने में आसक्त हैं ।

तब हम लोग भी उन सबों के साथ सलग्न हुए ।

कमलेश—क्या है !

सुशील—हाँ वहाँ ही ।

श्रीपतिः—अस्तु; करण्डानि तु वः पूरितानि ?

दीनबन्धुः—( निर्दिशन् ) आम् दृश्यताम् करण्डेऽस्मिन्वकुलो विद्यते, अस्मिञ्जाती, अस्मिन्कदम्बः, अस्मिञ्चम्पकः, अत्र मल्लिका, एतस्मिन्नस्ति पाटला, अस्मिन्पुनरगस्त्यपुष्पम्, अस्मिन्सन्ति बिल्वपत्राणि सदूर्वादलानि, पात्रेऽस्मिन्पुनरिङ्गुदी ।

कौत्सः—निरीक्ष्य ! अहो ! अद्य गुरवो युष्मासु परां प्रमोदपरम्परां प्राप्स्यन्ति ।
वनाऽन्तरात्समागतसमिद्भारिणां वटूनाम्—

समूहः—( स्वस्वभारान्स्थापयित्वोपविश्य ) अद्यास्माभिर्भाविवार्षिक-समारोह-समावर्तनसमारोहे विमृश्याधिकाधिकेन्धनाहरणाय वनाद्वनं चिरं भ्रान्तम् ।

श्रीपतिः—मया तु तथाऽपि सन्दिह्यते एतावतीभिः समृद्भिः सर्वेषां समावर्तनास्नातकानां ससमावर्तनहवनमागामिप्रतिपद्—दैनन्दिनं कर्म चैतद्द्वयं सम्पत्स्यते नवेति

दीनबन्धुः ( अङ्गुल्या नामानि गणयन्ति ) अस्मिन्वर्षे समावर्तिनः सन्ति—विश्वनाथ एकः दिनमणीर्द्वितीयः, चक्रधरस्तृतीय ( इत्यमसमाप्ते गणने )

सुबुद्धिः—अये ! किं गणयसि ? ऐषमः खलु परुदिवाष्टोत्तर समावर्तिनः सन्ति तत्र विद्यामात्रस्नातका व्रतमात्रस्नातकाश्च शतं सन्ति केवलमष्टावेव मित्रकौत्सप्रमृतयो वयं विद्याव्रतोभयस्नातकाः स्मः ।

---

श्रीपति— हाँ करण्ड पवित्र हैं ।

दीनबन्धु—( निर्देश देते हुए ) हाँ देखें । इस कारण्ड में मौलश्री है । इसमें चमेली, कदम्व, चम्पा, जूही, गुलाब, अगस्त्य फूल बेलपत्र, दूब इंगुदी आदि हैं ।

कौत्स—देखकर ! हे ! आज गुरु तुम लोगों पर अधिक आनन्द प्रदान करेंगे । जंगल में समावर्तम संस्कार विचार कर लकड़ी लाने के लिए जंगल से जंगल देर तक घूमते हैं ।

श्रीपति—मेरे द्वारा फिर भी संदेह किया जाता है ।

इन सभी समिधाओं के द्वारा सभी समावर्तन स्नातकों के हवन आगामी प्रतिपदा को दैनिक कर्म सम्पन्न होगा ।

दीनबन्धु—( अङ्गुली से नाम को गिनते हुए )

इस वर्ष समावर्ती हैं । विश्वनाथ एक दिनमणी दो, चक्रधर तीन इस प्रकार गणना समाप्त होने पर ।

सुबुद्धि—हे ! क्या गिनते हो ? अष्टोत्तर शत समावर्ती हैं । वहाँ सौ विद्या मात्र स्नातक व्रतमात्र स्नातक हैं । केवल आठ ही मित्र कौत्स से लेकर हम लोग विद्याव्रत दोनों स्नातक हैं ।

कौत्सः—मैवम् मां विहायैव गण्यतां भोः ।

शारदानन्दः— कुतः ?

कौत्सः—

दक्षिणां गुरुवे दातुं सखे संस्पृहयाम्यहम् ।
सार्द्धं तथैव सफलं समावर्त्तनमिष्यते ॥१३॥

शारदानन्दः—किमिव सखे ! स्वाश्रमस्य कृते नवीनं वचो ब्रवीमि ?

कौत्सः—भवतु, किन्तु मया तु तथैव निश्चितम् ।

शारदानन्दः—सत्यम् ?

कौत्सः—सत्यम् ।

शारदानन्दः—

सत्यङ्कारोऽस्ति किमयं परिहासविधित्सया ।
परेष्टलिप्सया किम्वा तत्त्वं तत्त्वं वद स्फुटम् ॥१४॥

प्रसङ्गप्राप्तगणने पूर्वं नामाक्षराणि ते ।
मरन्दस्यन्दसल्लक्ष्मीं यान्त्याचार्यमुखाम्बुजे ॥१५॥

---

कौत्स—

मत ऐसा करें । मुझको छोड़कर गिने ।

शारदानन्द—कहाँ से ?

कौत्स— मित्र ! गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ । आधा उससे सफल समावर्तन होगा ।

शारदानन्द —क्या ? मित्र !

अपने आश्रम के लिए नई वाणी कहता हूँ ।

कौत्स—हो, मेरे द्वारा वैसा निश्चित ही है ।

शारदानन्द—सत्य है ।

कौत्स—सत्य है ।

शारदानन्द—परिहार विधि से सत्य कहा गया क्या ?

दूसरों के द्वारा इष्ट की अभिलाषा वाले तत्व को स्पष्ट कहें ॥१४॥

प्रसङ्ग प्राप्ति की गणना करने के पूर्व नामाक्षर गिनें । आचार्य के मुख कमल पर लक्ष्मी निवास करें ॥१५॥

कौत्सः—

श्रीमदाचार्यवर्याणां सूल्लसन्मुखपङ्कजम् ।
सदा विजयतेऽस्माकं भ्रमराणां सुखावहम् ॥१६॥
परन्त्वथाऽस्य कार्यस्य हेतवे तत्पदाम्बुजम् ।
समीहते विशेषेण चञ्चरीकोऽयमेकलः ॥१७॥

शारदानन्दः--युज्यते, परमाचार्यचरणानामेवेत्थम्विधविचारेऽद्यपर्यन्तं मनः प्रसादो दृष्टः ?

कौत्स—नहि ।

शारदानन्सः — अथाप्येवम्बिधा ते विचारणा ?

कौत्सः—न वै विचारणामात्रं तदर्थं कृतप्रतिज्ञोऽप्यस्मि ।

शारदानन्दः—नन्वाचार्यप्रतिकूलैषा प्रतिज्ञा परित्यज्यताम् ।

कौत्सः — नैवं भवितुमर्हति ।

शारदानन्दः—आचार्याश्चेत्प्रतिकूला भवेयुः ?

कौत्सः—प्रतिज्ञादेवी खल्वाचार्यदेवमनुकूलयिष्यति ।

शारदानन्दः—अन्तरायश्चेत्कश्चित्परिपतेत् ?

कौत्सः—परिपततु, किन्तु--

हृन्निश्चितान्न विरमन्ति विशेषविज्ञा-
स्तीव्राऽन्तरायनिकरे समुपस्थितेऽपि ।

---

कौत्स—श्रीमान् आचार्य के पराक्रम रूपी मुख कलम पर सुख रूपी भौंरे विजय प्राप्त करें ॥१६॥

कलम रूपी पैर पर कार्य के लिए विशिष्टता हो ॥१७॥

शारदानन्द—परमाचार्य को देखने से आज तक मन प्रसन्न देखा गया ।

कौत्स— उसके लिए मैं कृतप्रतिज्ञ हूँ ।

शारदानन्द--आचार्य प्रतिकूल ऐसी प्रतिज्ञा त्यागें ।

कौत्स--ऐसा नहीं हो सकता है ।

शारदानन्द—आचार्य प्रतिकूल हुए ।

कौत्स—आचार्य देवता अनुकूल होंगे ।

शारदानन्द—कोई गिरे ।

कौत्स—गिरे किन्तु,

तीव्र विघ्नों के उपस्थित होने पर भी विज्ञ लोग विरमित नहीं होते । मेघ से

किं कथ्यतां जलधरात्पतिताऽम्बुधारा ?
विभ्रम्भैरानिपतनाच्छिथिलीभवन्ति ? ॥ १८ ॥

शारदानन्दः—तदपि युक्तम्, परमेतावद्दिवसपर्यन्तं कुतो न प्रकाशितैषा प्रतिज्ञा ?

कौत्सः—प्रतिज्ञाताऽर्थोत्कण्ठा खलु प्रकाशपथं झटिति नाऽधिरोहति ।

आरम्भे मङ्गलकरी प्रकाशनपराङ्मुखी ।
प्रवृत्तिरिति विद्वांसः सङ्गिरन्ते बहुश्रुताः ॥ १९ ॥

शारदानन्दः—सत्यम्, किन्तु सखे ! तावकीनेयं प्रतिज्ञा आचार्यचरणाऽननुमति-बाधितेति तत्र ते क्लेशः सम्भाव्यते ।

कौत्स—किमिव कथयसि ?

यथा सर्वाः सम्मिलन्ति नद्यः सलिलशेवधौ ।
तथा नियमिनां क्लेशा नियमे सम्मिलन्त्यलम् ॥ २० ॥

श्रीपतिः—( उत्थाय सूर्याऽभिमुखं वीक्ष्य ) त्वर्यतां त्वर्यतामाश्रमगमनाय, अथ गुरूणां निम्नगाऽवगाहनवेला न दूरर्त्तिनी ।

सर्वे—( उत्थाय शान्तिमन्त्रं पठन्तश्चलन्ति )

इति द्वितीयं दृश्यम् ।

---

निकली जलधारा से समय पर सब शिथिल होते हैं ॥ ८॥

शारदानन्दः—तो भी उचित है । इतने दिनों तक कहाँ से प्रतिज्ञा प्रकाशित नहीं हुई ।

कौत्स—अर्थ की कुतूहलता निश्चय ही प्रकाश के मार्ग में शीघ्र चढ़ते हैं ।
आरम्भ में मङ्गल करने वाली, प्रकाशन पराङ्मुखी, विद्वानों को प्रवृति हैं ॥१९॥

शारदानन्दः—सत्य है, किन्तु मित्र ! तुम्हारी यह प्रतिज्ञा नहीं पूरी होने पर आचार्य से अनुमति न मिलने पर तुम्हें क्लेश होगा ।

कौत्स—क्या कहते हो ।

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार संयमियों के दुख दुःख नियम में मिल जाते हैं ॥२०॥

श्रीपति—( सूर्य के मुख को देखकर ) आश्रम जाने हेतु, शीघ्रता करे ? ऋषियों के गङ्गा नहाने की बेला समाप्त हो गयी ।

सभी—( उठकर शान्तिमन्त्र को पढ़कर चलते हैं ) ।

दूसरा दृश्य समाप्त ।

स्थानं वरतन्तुमुनेराश्रमः, अध्यापनपर्णमण्डपे कुशासनधृतव्याघ्र चर्म्मोपविष्टो महर्षिः—

वरतन्तुः—( प्रदोषाऽनन्तरं रात्रौ प्रतिपत्तिथिप्रयुक्ताऽनध्यायकारणेनोपदेशमात्र-ग्रहणाय च्छात्रेषुश्रेणीतः समासीनेषु कौत्सं प्रति ) ननु वत्स ! त्वया साऽङ्गाः सरहस्याः सर्वाः श्रुतयः, मीमांसा, न्यायः, धर्मशास्त्रम्, पुराणञ्चेति सर्वं शब्दतोऽर्थतश्चाऽधीतम् सहैवाऽध्यापितं पर्यालोचितञ्चेति साम्प्रतं त्वं चतुर्दशविद्यापारावारपारीणः सञ्जातोऽसि ।

व्रतमपि तात ! त्वयाऽखण्डं परिसमापितमित्थं सव्रतविद्यानदीष्णोऽसीत्यधुना ते समावर्त्तनसंस्कारसमयः समायातोऽस्ति; तत्तदर्थं सामग्रीसम्भारं सुसज्जितं कुरु, यथा शुभे मुहूर्त्ते विधिहुतो हुताशनः प्रदक्षिणार्च्चिः स्यात्; किमिति व्यर्थं समावर्त्तनसामग्री-सम्भारं विहाय नितान्तदुर्वहं गुरुदक्षिणाऽर्पणभारं वोढुं महद् दुःखं सोढुं व्यवस्यसि, किमर्थञ्च तदर्थं चिन्तयन्नन्तेवासिनिचयं नाध्यापयसि ? ( समीपागतमृगशिशुं निर्दिश्य पश्य शिशुरयं सामध्वनिं श्रोतुं ते मुखं निरीक्षते ।

अथ—

नियमपालनमेव चिकीर्ष्यते यदि तदा श्रृणु मद्वचनं हितम् ।
चिनु वने कुसुमानि निजेच्छया वितर तानि शुभां गुरुदक्षिणाम् ॥२१॥

कौत्सः—( सकरसम्पुटः ) पूज्यपादाः; न जायते तावन्मात्रेण स्वातं शान्तम् ।

---

स्थान वरतन्तु मुनि का आश्रम, अध्यापनपर्णकुटी पर कुशासन पर रखे हुए व्याघ्रचर्म पर बैठे महर्षि ।

वरन्तु—प्रदोषकाल के बाद रात में प्रतिपदा तिथि अनध्याय करणोपदेश के लिए छात्रों में श्रेणी से बैठे कौत्स के प्रति ।

बेटे ! कौत्स ! तुम्हारे द्वारा एकान्त में सभी वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण इन सेवों का अध्ययन कर लिए । १४ विद्याओं में निपुण हुए ।

पुत्र—तुमने विद्या एवं व्रत समाप्त कर ली है । अब तुम्हारे समातंन संस्कार का समय है । इसलिए सामान तैयारी करो । शुभ मुहूर्त में हवन एवं प्रदक्षिणा होगी । समाववंन सामग्री की एकत्रोकरण को छोड़कर गुरुदक्षिणा अपंण का भार वहन करने के लिए महान दुख सहोगे । यह छात्रों के समूह सोचकर अध्यापन नहीं करते हैं । ( समीप में आए हुए मृगशिशु को निर्देश देते हुए ) देखो । देखो । यह बच्चा सामवेद की ध्वनि को सुनने के लिए उनका मुख देखें ।

मेरे हितकारी वचन को सुनें नियम पालन करें, स्वेच्छा से वन में फूल चुनें यही मेरी गुरुदक्षिणा होगी ॥२१॥

कौत्स—( हाथों को जोड़कर ) पूज्यगुरुजी मुझे शान्ति नहीं मिलती है ।

पयसो विप्रुषः शान्त्यै न भवेयुः कदाचन ।

उदन्याशुष्ककण्ठस्य पातुं चुलुकचुम्बिनः ।। २२ ।।

वरतन्तुः—( हस्तमुत्थाप्य ) चिरञ्जीव, परा प्रदर्शिता गुरुभक्तिः, किन्त्वेतत्तु विचारय यत्—त्वया निजमनोरथानुसारेण मत्प्रसादायैव तु गुरुदक्षिणार्थं प्रयत्नः करिष्यते, स खलु मत्प्रसादः प्रयत्नमन्तरेणैव चेदस्ति सिद्धस्तत्किमिति 'अर्के स्थिते मधुनि शिखरिशिखराद्रोहणं मुधा विधित्ससि' याहि पत्रं वा फलं वा वनादानीय तन्मात्रं समर्प्य सफलप्रतिज्ञो भव ।

कौत्सः—गुरवः ! इत्थं कृतमप्यकृतं मन्ये,

अकृते निजकर्त्तव्ये नायमात्मा प्रसीदति ।

अप्रसीदति तस्मिंस्तु कुतः शान्तेः समुद्भवः ।। २३ ।।

वरतन्तुः—हन्त ! कथङ्कारं कृतमप्यकृतम् ? कथमात्मनोऽप्रसादः कथम्वा भवेदशान्तिः ? भक्तिमात्रसन्तोषितगुरुणा त्वया भक्तिरेव सर्वतोऽधिका गुरुदक्षिणा प्रदत्ता, नाऽस्त्यावश्यकता तव तदर्थं धनानयनस्य, नो वास्ति प्रयोजनं मे तद्ग्रहणस्य, तद्वत्स ! दत्तं त्वया गृहीतं मयेति मन्यताम्, न खलु सत्त्वसम्पूरिते विशुद्धविप्रकर्त्तव्ये रजःसम्मिश्रणाय वितन्यतामाग्रहः; इदं पुनर्विधेहि—

---

सूखे कण्ठवाले के लिए एक चुल्लू जल ही बहुत ही शान्ति के लिए अधिकाधिक कभी नहीं ।।२२।।

वरतन्तु—( हाथ उठाकर ) चिरञ्जीव, आपने बड़ी गुरुभक्ति दिखाई । लेकिन विचार करो कि अपने मनोरथ के अनुसार मुझे प्रसन्न करने के लिए जो गुरुदक्षिणा के लिए प्रयत्न करोगे वह प्रसन्नता प्रयत्न के विना ही होगी। पत्र, पुष्प, फल आदि ही मेरी दक्षिणा होगी इन सवों का समर्पण कर सफल वाला होओ ।

कौत्स—गुरुजी । इस प्रकार कृत भी अकृत मानता हूँ । अपने कर्तव्य नहीं करने पर आत्मा प्रसन्न नहीं होती है । अप्रसन्नता से शान्ति कहाँ मिलेगी ।।२३।।

वरतन्तु—खेद है ! क्यों कृत अकृत है ? क्यों अप्रसन्नता एवं क्यों अशान्ति ? गुरु के प्रति भक्ति ही गुरुदक्षिणा हुई । तुम्हारे धन लाने को आवश्यकता नहीं । मुझे लेने का प्रयोजन नहीं । तुमने दिया और मैंने लिया यह मानो, विशुद्ध चीज में धूलमिलाने जैसी बात हो रही है ।

सुप्रसादफललब्धये यदि, रोपितेति गुरुदक्षिणा लता।
अप्रसादफलमेव सम्फलेत्कीदृशं बत तदा भविष्यति ॥ २४।.

वेत्सि वत्स ! अर्थः खल्वनर्थकारको, न भवति श्रेयसे विप्राणां विशेषतस्तत्राऽपि तपोधनानाम्, तत्त्वयि मयि च शिष्ये गुरावुभत्र तद् ग्रहणं गुरुगर्हणम्; तत्तावद् याहि सज्जीगुरु समावर्त्तनसंस्कारसामग्रीम्, किमस्ति प्रयोजनं कष्टरक्षणाया गुरुदक्षिणायाः ?

कौत्सः—

विभातु भवतामिदं पदसरोजयुग्मं सदा
किमप्यतुलवस्तु तत्परमलुब्धभृङ्गाय मे।
तदेव यदि सञ्जितं तदपरं परं सञ्जितं
न सञ्जितमदो यदाऽपरमसञ्जितं स्यात्तदा ॥ २५ ॥

वरतन्तुः—( स्वगतम् ) हन्त ? यथैवाऽस्य वाग्वैभवात्प्रसीदामि, तथैव दुराग्रहात्पुनर्विषीदामि, तत्किं विधातव्यम् ? ( इति किञ्चिन्मूकीभूय )

वमति चारु चमत्करणं सुधा-
मधिकमस्य मनोहरमुत्तरम्।
सुविषमाऽस्य च निर्द्धनतोरगी
प्रतिपलं गरलं परिमुञ्चति ॥ २६ ॥

---

प्रसन्नता रूपी फल की प्राप्ति के लिए, गुरुदक्षिणा रूपी लता आरोपित हुई है अप्रसन्नता रूपी फल यदि मिले तो बताओं कितना कष्ट होगा ? ॥२४॥

जानते हो पुत्र ! प्रयोजन अनर्थकारक नहीं होता है ब्राह्मणों एवं तपस्वियों का कल्याण होता है। तुम में, मुझमें, शिष्य मे, और गुरु में ग्रहण गुरु गर्हा है। तब जाँये, सज्जी करें समावर्तन संस्कार सामग्री को गुरुदक्षिणा का क्या प्रयोजन है ?

कौत्स—आपके दोनों चरण कमल हमेशा सुशोभित हों। उस पर भृङ्गार सुशोभित हों।

वरतन्तु—( मन ही मन ) खेद है। जिस प्रकार वाणी वैभव से प्रसन्न होता है। उसी प्रकार दुराग्रह से कष्ट करता हूँ। तब क्या करना चाहिए ?

( इस प्रकार कुछ चुपहोकर )

अमृत वमन करता है। प्रतिपत्र विषय भी वमन करता है ॥२९॥

( प्रकाशम् ) ननु वत्स ! युक्तीनां निधानमपि ते वचोविधानं न मे रोचतेतराम्, यतो हठः किल कामक्रोधादिसोदरः शरीरसन्निविष्ट शत्रुः ।

हठाख्यो वृक्षोऽयं प्रफलति फलं दुष्कटु तत-
स्तदारोपे यत्नो न खलु करणीयः सुविदुषा ॥
अतो वारम्वारं वचनमतिसारं निगदितं-
तथाऽपि त्वं पारं व्रजसि कुविचारोदकनिधेः ॥ २७ ॥

इति कौत्स ! मा भूस्त्वं सविद्योऽप्यविद्य इव, त्यज्यतां दूराद्दुराग्रहोगृह्यतां मद्वाक्यम्, जानासि नहि—

चन्दनादतिसुशीतलादपि
घर्षणेन दहनः प्रजायते ।
शीतलं क्कधितमग्निना जलं
तप्ततां समनुयाति सर्वथा ॥ २८ ॥

कौत्सः—गुरो ! ज्वलितोऽपि ज्वलनः सलीलं सलिलेन शान्तिमुपयाति. क्कथितमपि कीलालं कालान्तरकवलितं शैत्यमनुगच्छति, अस्तु मदारोपितो हठारव्य एव वृक्षः, परन्तु—सोऽपि श्रीमतामलौकिकशक्तिशालिकृपादृष्टिवृष्टिप्रभावान्मधुरं फलं फलिष्यति ।

वरतन्तुः—( आत्मगतम् )

दौर्भाग्यभाजनमसौ न हठात्स्वकीया-
द्धा हन्त ! हन्त ! विनिवर्त्तत ईप्सितोत्कः ।

---

प्रकट होकर पुत्र ! उचित आप की वाणी मुझे अच्छी लगती है । निश्चय ही काम क्रोधादि शरीर के शत्रु हैं ।

हठ रूपी वृक्ष का फल कटु एवं दोष पूर्ण हैं । विद्वान को यत्न करना चाहिए । वार वार कहने पर कुविचार रूपी समुद्र के पार कर जाओ ॥२७॥

कौत्स—ज्ञान ग्रहण करो, अज्ञान को त्यागो ।

मेरे वाक्य को जानते हो ।

चन्दन तो शीतल होता है, लेकिन घर्षण करने से वह भी गर्म हो जाता है । जल स्वभाव से ठंढ़ा होता है, लेकिन अग्नि के सम्पर्क से गर्म हो जाता ॥२८॥

कौत्स—गुरु ! गर्म जल भी शीतल जल के स्पर्श से ठंढ़ा होता है । मेरे द्वारा लगाया गया हठ वृक्ष है, लेकिन वह भी श्रीमान् के अलौकिक शक्ति शाली कृपावृष्टि के प्रभाव से मधुर फल फलेगा ।

वरतन्तु—( मन ही मन )

दुर्भाग्य से यह हठ वृक्ष मैंने ही लगाया है । खेद है ! खेद है ! कई बार कहने

उद्बोधितोऽपि कतिधा न च बुद्ध्यतेऽपि
क्वाऽहं व्रजामि कलयामि च कं विधिं वा ॥२९॥

अस्तु पुनरमुं प्रबोधयामि ( प्रकाशम् ) वत्स ?

याभ्यर्थयितुं महीपतिततिद्वाराणि सेविष्यसे
ग्रामम्ग्राममहो ! विशालविपिने भ्राम्यन्महावर्त्मनि
शिष्य ! स्वौ चरणौ च चङ्क्रमणतश्वभ्रीकरिष्यस्यलं
सेयं श्रीः किल कीदृगस्ति तदहं त्वां बोधये संशृणु ॥३०॥

जगत्यस्मिन्नदृष्टजलदजलधारेयमिन्दिरा केवलं काम-क्रोध-लोभ-मोह-मदात्मकविषमविषवल्लीरेव-दुर्वृत्ति काण्ड-प्रकाण्ड-शाखा-पत्रपुष्प-फलसम्पदा सम्पन्नाः करोति। प्रपञ्चरङ्गमञ्चेऽस्मिन्नेषा समभ्यस्तकतिपयवेषा शैलूषयोषा नारिकेलफलाम्बुसादृश्यवेषं विरचय्य यथा प्रथमं कमनीय-कान्ता-काञ्चनोपभोगाद्यात्मकं श्रृंगारवीराद्भुत-हास्य-भयानक-वीभत्स-रौद्ररसं नाटकमतिरमणीयं दर्शयन्ती सांसारिक-सामाजिकान् रमयति, तथैव पश्चाद् गजभुक्तकपित्थकथन्तावेषमवलम्ब्य-धन-सन्तति-संक्षयादिरूपं करुणरसमय-मत्यरमणीयं तत्प्रदर्शयन्ती तान्पुना रोदयति न प्रबोधयति।

इयमहो विशालविपिने तापत्रयतप्तविविदुषां लोचनगोचरोऽस्ति महती मरुन्मरीचिका न विदुषाम्। तत्तथा तात ! कृष्णधूलीपटलायमानं धूमपटलमपि

---

पर भी मैंने नहीं माना कहाँ जायें ? क्या करें ? ॥२९॥

हो फिर इसको बताता हूँ। ( प्रकटरूपसे ) पुत्र !

याचना करने के लिए राजा के द्वार का सेवन करना पड़ेगा।
विशाल जंगल के अतिसंकटमय रास्ते में रहना पड़ेगा ॥३०॥

इस संसार में अदृष्टमेघ से जलधारा की तरह केवल काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद विषय विष वल्ली की तरह दुर्वृत्ति-काण्ड-प्रकाण्ड-शाखा-पत्र, पुष्प-फल-सम्पदा सम्पन्न करता है।

इस प्रपञ्चरथी रङ्गमञ्च पर नारियल के फल, जल के समान वेष वाले, रचकर जिस प्रकार पहले कमनीय-कान्ता-सोना उपभोग आदि श्रृंगार, वीर अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स रौद्ररस में नाटक को अति रमणीय दिखाती हुई सांसारिक समाजिकों को रमण करवाता है।

उसी प्रकार बाद में हाथी के द्वारा खाये गये पीपल अनेकानेक वेष का अवलम्बन कर धन-सम्पत्ति-सन्तति करुणरसमय अतिरमणीय उसका प्रदर्शन करती हुई रुलाती एवं जगाती है।

हे पुत्र ! धूली एवं धूओं की तरह मलिन चरित्र हो जायेगा खेद है ! यह लक्ष्मी

मलिनयति सचित्रं यथेयं सच्चरित्रम् । हन्त !

न ज्ञायते पलायनपटीयसीयं नटी कन प्रकारेण प्रायो धातुरप्यविदितेन केन वा वर्त्मना चिरसेवासंल्लग्नस्याऽपि + सकाशात्पलायते, नविमलं 'कुलं कामयते, न हृद्यां विद्यां समपेक्षते, न जातिं जानाति, न रूपं गणयति, न स्वभावं भावयति, न मर्यादां मनुते, न सुमतिं सेवते, नो वा सुविचारं विचारयति, नाचारं प्रचारयति, धिक् श्रियं धिक् श्रियं श्रियं धिक्, हन्त ! हन्त !

श्रीरियं मन्दरधरोन्मथिते जलधौ पुरा
चक्रीभूता जलेऽद्यापि भ्राम्यत्येव न तिष्ठति ॥३१॥
तामेनां यः प्रयत्नेन गृह्णीयादतिलौल्यतः
सेव वम्भ्रम्यमाणोऽसावपि नैति क्वचित्स्थितम् ॥३२॥

कष्टं ? धातुः सृष्टौ न स कोऽप्यस्ति दुर्बोधो य एनं नाश्रयति, तदस्या सम्बन्धमात्रमप्यपरान्धतमसं किम्पुनर्ग्रहणम् । तदन्धतमसेऽस्मिन् मा पत, मन्यस्व मामकीनं वचः, नैतस्या दुष्टायाः कृते कष्टं कुरु ।

न रमते गुणवत्सु जनेष्वियं । गुणविहीनरमा परमाऽधमा ॥
? अपि सुधाभगिनीयमहो ! महोविषसमा विषमां कुरुते स्थितम् ॥३३॥
न कुरु तीव्रतपश्चरणेन हा ! विमलशास्त्रगणेन च पावनम् ॥
निजमनो मलिनं धनचिन्तया विशदधीरसि धारय मत्कथाम् ॥३४॥

मनस्विन् ! एतन्मदुदितं विपुलं विचारय ( सर्वानुद्दिश्य ) यात यूयम्, मिलित्वा कौत्सं बोधय, वहूक्तं संक्षिप्तं मया ( इत्युक्त्वा गते गुरौ सर्वे निष्क्रान्ताः । जवनिकापातः

प्रथमोऽङ्कः समाप्तः ।

---

वंश को नहीं देखती है । विद्या, जाति एवं रूप, स्वभाव, मर्यादा, सुमति, सुविचार आदि को नहीं देखती है ।आचार को नहीं देखती है । लक्ष्मी को धिक्कार है । धिक्कार हो, खेद है ! खेद है ।

यह लक्ष्मी भँवर की तरह घूमती है । प्रयत्न पूर्वक स्थिर करने पर भी स्थिर नहीं रहती है । मन्दराचल पर्वत के घूमने से इसमें धुमेरी का संस्कार आ गया ॥३१–३२॥

गुणवानों को यह लक्ष्मी नहीं देखती है । गुणविहीन को यह देखती है । अमृत की यह बहन है, लेकिन विष की तरह विषम है ॥३३॥

तीव्र एवं कठोर तपस्या मत करो हा ! स्वच्छ एवं पवित्र शास्त्र के पढ़ने से क्या ? मेरा मलिन मन धन की चिन्ता में लीन है । बड़े धैर्यवान् हो मेरी कथा को ग्रहण करो ॥३४॥

मनस्वी पूर्ण विचार करें ( सबों को लक्ष्य कर ) तुम लोग मिल कर कौत्स को कहो बहुत कहा मैंने ( यह कहकर गुरु के चले जाने पर ) सभी चले जाते हैं ।

परदा गिरता है । प्रथम अङ्क समाप्त होता है ।

# द्वितीयोऽङ्कः

वरतन्तुः—( अध्यापनाऽनन्तरं परितः पङ्क्त्या समासीनेषुच्छात्रेषु कौत्सं प्रति ) किं भोः ! कौत्सः ! अथाऽपि ते मनः स्थिरं जातं न वा ? बहूपदिष्टं ह्यः त्वदिष्टं तदमून्न वा ? अतः परं किममिधीयतां मया ? विमृश, स्वयमसि विमर्शविशारदः ।

कौत्सः—आचार्य चरणानां सर्वं वचनं श्रुतिस्मृतिपुराणप्रवचनम् ।

नहीत्थमुपदेष्टुं सद्वाग्विस्तारप्रभावभूः ।
सुराचार्योऽप्यलम्भूष्णुः का वार्ताऽन्यस्य सम्भवेत् ? ॥३५॥

वरतन्तुः—का पुनरभूद् गुरुदक्षिणाऽर्पणे स्थिरा मतिः ?

कौत्सः—पूज्यपादाः यद्यहं स्वकीयां गुरुदक्षिणाऽर्पणं प्रतिज्ञां न पूरयेयं तर्हि—

कौत्सः कोऽप्यकुलीनमानुषपशुः कृत्वा प्रतिज्ञामभूत्
तां नो पूरयितुं प्रभुर्द्धिगहं तं धिग्भारभूतं भुवः ।
नूनं जागरिता जनेषु मम हा ! सोऽयं कलङ्को महान्
तत्किं स्यान्निधनं न मेऽर्जितवतोऽप्याचार्यसेवाधनम् ॥३६॥

वरतन्तुः—अस्तु, परं गुरोराज्ञां विलङ्घितवान्कौत्स इति कलङ्कपङ्कः कमङ्कयिष्यति ।

---

कौत्स—( पढ़ाने के बाद चारो ओर पंक्तिबद्ध होकर चारों ओर बैठे हुए छात्र कौत्स के प्रति ) क्या हे ! कौत्स ! अभी भी तुम्हारा मन स्थिर नहीं हुआ क्या ?

मैंने यह बहुत उपदेश दिया । इससे बढ़कर और क्या कहें ? तुम स्वयं विचारवान हो ।

इस प्रकार का उपदेश अच्छे उपदेश के विस्तार के प्रभाव से उत्पन्न वृहस्पति की भी वाणी क्या है ? ॥३५॥

वरतन्तुः—फिर गुरुदक्षिणाअर्पण में बुद्धि स्थिर है क्या ?

कौत्स—यदि मैं गुरुदक्षिणा नहीं चुका दूं तो—

मैं मानुष पशु दक्षिणा चुकाने की प्रतिज्ञा कर ली है ।

यदि उसकी पूर्ति नहीं कर पाया तो मैं पृथ्वी का भार हूँ ।

मुझे महान् कलङ्क होगा ।

आचार्य सेवा ही मेरा धन है ॥३६॥

गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन यदि करूं तो मुझे महान कलङ्क होगा ।

कौत्सः—कौत्समेव, अत एव सा राज्ञामिव तत्रभवतामाज्ञा मे माता निषेध-कञ्चुकं निःसार्य विधिकञ्चुकेनाच्छतुनिजं वदनमित्यस्ति चरणयोरशरणः परा प्रार्थना ।

वरतन्तुः—( क्रमादरुणनयनः ) नैषा निःस्वस्य ते निःस्पृहे मयि प्रार्थना किन्तु कदर्थना, तद्ब्रूहि कौतस्कुतन्ते मद्देयं धनं यदेतस्मिंस्तवाग्रहाग्नौ मद्वाक्योदकं घृतायते; ( किञ्चिन्मूकीभूय क्रोधव्यञ्जकं वाक्यं वदति ) आ ! ज्ञातम्, तव निष्कुटे हाटकस्य विद्यते कश्चिद्विटपीति ।

कौत्सः—

न मत्पार्श्वे पूज्योत्तमवर ! वराटोऽपि विभवो-
गृहारामः क्व स्यात्क्व पुनरपि निष्कादिककथा ।

वरतन्तुः—तथाऽपि तव निष्ककथैव कथम्पुनर्व्यथयतितराम् ?

कौत्सः—( चरणयोर्निर्दिश्य )

अथाऽप्येतत्पादाम्बुजयुगलचिन्तैव हृदया-
लयारामे चिन्तामणिविपुलवल्ल्यस्ति विपुला ।।३७।।

वरतन्तुः—( स्वगतम् ) हन्त ! दुराग्रहग्रहदर्शनं ग्रसमाना नैवोद्गिरति (प्रकाशम्) कौत्स ! मयाऽथ मन्यते कुवेर एव त्वदर्थे दीनारान् वर्षिष्यतीति ।

कौत्सः—( प्रणतिमुद्रया प्रणमन् ) प्राप्तं प्राप्तव्यम्, अथ सम्भाव्यते-शक्यते मया दातुं गुरुदक्षिणाम् इति ।

वरतन्तुः( क्रमेणातिक्रुद्धः सन् ) 'गुरुदक्षिणां गुरुदक्षिणां गुरुदक्षिणाम्' कर्णौ वधिरौ जातौ, मूर्ख ! कुतो दास्यते त्वया गुरुदक्षिणा ?

---

कौत्सः—कौत्स ही, इसलिए राजाओं की तरह आपकी जो आज्ञा ।

हे पूज्यउत्तमवर मेरे पास भी विभव है । आराम कहाँ ? कथा क्या ? ।।३७।।

वरतन्तु—फिर भी तुम्हारा निष्कथा की तरह अत्यन्त व्यथा है ।

कौत्स—( दोनों पैरों को बताकर ) इनके दोनों कमल रूपी चरण चिन्तामणि की तरह है ।

वरतन्तु—( मन ही मन ) खेद है ! दुराग्रह दर्शन को ग्रसते हुए नहीं निकलता है ( प्रकट रूप से ) कौत्स ! मैं मानता हूँ । कुवेर ही तुम्हारे लिए सोने की वर्षा कर देंगे ।

कौत्स—( नम्रता की मुद्रा से प्रणाम करते हुए ) प्राप्त होना चाहिए । इसके बाद सम्भावना हो सकती है । मैं गुरु दक्षिणा दूँगा ।

वरतन्तु—( क्रम से अत्यन्त क्रुद्ध होते हुए ) गुरुदक्षिणा ३ कान बहरा हो गया है । मूर्ख ! कहाँ से गुरुदक्षिणा दोगे ।

कौत्सः—( गुरुचरणयोर्निर्दिश्य ) नन्वेतच्चरणारविन्दद्वन्द्वामन्दमरन्दनिस्यन्दत एव नाऽन्यतः ।

वरतन्तुः—( अतिक्रोधाकुलो निःश्वसन् द्रष्टाधरस्तर्ज्जन्या तर्जयन् अरे रे कलुषकुलाधारराजद्वारचङ्क्रमणकण्डूतिकवलितचरणतल ! दुष्कर्त्तव्यनिश्चल ? समेधमानदुःसाहस ! वादाऽनुवादपरवश ! दुर्विधे ! दुराग्रहनिधे ! अतिकठिनकार्यकरणासक्त ! नूतनगुरुभक्त ! तद्देहि मे सव्रतसमध्यापितचतुर्दशविद्यानां चतुर्दशकोटिमितान्दिव्यदीनारान्गुरुदक्षिणाम्, नाऽन्यथाऽस्ति ते निस्तारः ।

कौत्सः--( गुरुचरणयोः सकरं शिरः संयोजयति )

वरतन्तुः—( झटित्युत्थाय कौत्सं पादतःप्रक्षिप्य पदमेकं पश्चात् भूत्वा सहस्तसङ्केतम् )

याहि कौत्स ! समक्षे मे मा कृथास्त्वं वृथा स्थितिम् ।
राजद्वारेष्वटाट्यैव भाले विलिखिता तव ॥३८॥

कौत्सः—( गुरुपादप्रक्षेपतो वारत्रयं भूलुठितगात्रतामभिनयन्मुष्टौ किञ्चिन्नीत्वेचोत्थाय हस्तौ नियोज्य गुरुपादयोः सङ्केतं कृत्वा )

सरस्तरङ्गकरतः कञ्ज ! सन्ताड्य स्फुटम्
परं गृहीतं मधुरं मधु ते मधुलेहिना ॥३९॥
तवैव मधुसद्गाथां गायन्गच्छति षट्पदः
काले पुनर्मधु स्वादु प्राप्तुं कृतमनोरथः ॥४०॥

---

कौत्स —( गुरु के चरण को बताकर ) कमल रूपी चरण से मरन्द निकलता है अन्य नहीं

वरतन्तु—( अत्यन्त क्रोधाकुल होकर निःश्वास लेते हुए अधर पर दाँत रखकर डराते हुए ) अरे रे पापी निश्चल पाप के समूहधार राजद्वार पर चक्रमण एवं खुल जाता हुआ चरणतल कवलित होता है । हे दुर्विध ! दुराग्रह के भंडार ! अत्यन्त कठिन कार्य करने में आसक्त ? नयागुरुभक्त ! चोदह विद्या पढ़ने को कीमत चर्ददंश करोढ़ स्वर्णमुद्रा दो । अन्यथा छुट्टी नहीं मिलेगी ।

कौत्स—( गुरु के चरणपर शिर रखकर )

वरतन्तु—झट से उठकर कौत्स को पैर से हटाकर जाओ कौत्स । मेरे समक्ष में रुकना बेकार है । राज दरबार में भिक्षा माँगना तुम्हारे मस्तक पर लिखा हुआ है ॥३८॥

कौत्स—( गुरु के पैर को छूकर तीन वार परिक्रमाकर पृथ्वीपर लोटते हुए अभिनय कर दोनों हाथों को जोड़कर गुरु के पैरों को संकेत कर । ) भौंरे के द्वारा मधु को ग्रहण करो । भौंरा मधुमय गीत गाता है । पुनः समय पर मधु का स्वाद प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्पित है ॥३९–४०॥

(इति पठन्निष्क्रान्तः) जवनिकापातः। इति प्रथमं दृश्यम्। पुदर्जवनिकोत्थानम्।

वरतन्तुः—( कुशासनस्थः शिरोनिहितैकहस्तः शोचन् )

अभाव्यं भाव्यते भाव्यं पारेभाव्यं प्रयाति कः ?
आकृष्यन्ते वलाद् येन संसारे सर्वजन्तवः ॥४१॥

चैत्रमैत्रप्रभृतयो वहिस्तिष्ठन्ति शत्रवः
अयमन्तः स्थितोऽरातिः क्रोधिनः क्रोधलक्षणः ॥४२॥

क्रोधो हन्त ! मनीषिणां प्रकुरुते सद्योमहावालिशं-
क्रोधो धर्मधुरन्धरं कलयति द्राक्पापिनामग्रगम्।
क्रोधः सत्कुलजेऽप्यहो ! प्रथयति प्रौढं कलङ्कं ह हा।
तत्किं स्यात्किल भूषितं त्रिभुवने यन्न क्रुधा दूषितम् ॥४३॥

( इति वारम्वारं विमृशत्ति )

( प्रविश्य परितः समुपविष्टेषु च्छात्रेषु )

प्रथमः—गुरवः ? नाऽत्रभवन्तः कथमपि स्वभावशीतलमात्मानं शोकाग्निसन्तप्तं कर्त्तुमर्हंति, कौत्सः किल प्रथमं तत्रभवद्भिर्गुरुदक्षिणाऽऽग्रहदुर्ग्रहग्रासाद्विजितसर्वस्वनाशान्नि- वारितोऽपि श्रीमद्वचो माजीगणत्, ततः स स्वदोषेणैव यत्र कुत्राऽपि गतः कथं शोचनीयः स्यात् ?

---

( इतना पढ़ते हुए बाहर निकल जाता है। ) परदा गिरता है। यह प्रथम दृश्य है। फिर परदा उठता है।

वरतन्तु—कुश के आसन पर वैठकर शिर पर हाथ रखकर सोचते हुए।

जो नहीं होने वाला है, वह नहीं होता है। जो होने वाला है, उसे कोई कैसे हटा सकता है ? ॥४१॥

जिस भवित व्यता के द्वारा संसार के सभी जीव हठात् खीच लिए जाते हैं आज से शत्रु बाहर ही हैं। आन्तरिक शत्रु क्रोध है। क्रोधी का लक्षण क्रोध है ॥४२॥

मनीषी क्रोध करतेहैं। पापियों में अग्रगण्य लोग को कर्म में धुरन्धर लोग जीत लेते हैं। अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हो हाँ ! यह महान् कलङ्क है। त्रिभुवन में क्रोध से दूषित लोग भूषित नहीं होते हैं। यह बार बार विचार करता है ॥४३॥

( प्रवेश कर चारों ओर बैठे हुए छात्रों को )

पहले—गुरु ? आप लोग क्यों यहाँ किसी तरह भी स्वभाव से शीतल अपने को शोक अग्नि से सन्तप्त करते हैं। कौत्स निश्चय ही आपके दक्षिणा के लिए चिन्तित है अपने दोष के कारण जहाँ कहीं भी गया चिन्तित ही हुआ।

वरतन्तुः—( दीर्घं निःश्वसिति )

द्वितीयः—हन्त !

गुरुवाक्याऽमृतं तेन न पीतं हठशालिना
उज्झितं विषवत्किन्तु दुखं किं तद्विधीयते ॥४४॥

तृतीयः—क क क्व एव्वं ववव्वक्तुं न न न्न श श श्शक्नुयाद्विविव्विद्वानपि ववव्वालिशरराजः ससस्स इति ।

वरतन्तुः—( निःश्वस्य ) भवतु, परन्तु-किं कथयित्वाऽऽश्रमाच्चलित इति स्मर्यते । ?

तृतीयः—स्स स्स स्स स्स ( इत्यसमाप्त एकाक्षरे )

द्वितीयः—स्स स्स स्स स्स, तूष्णीं भव, चतुर्युगेनैकाक्षरमात्रमुच्चरसि, अयमहमादितो वृत्तान्तं वेदयामि ( इति तस्मिंस्तूष्णीके ) आचार्याः ! तद्गमनसमये प्रष्करपुष्करिणीपर्यन्तं सर्वे वयं सहैव तेन सह गताः ।

सर्वे—हं हं हं ।

द्वितीयः—ततोऽहमेकस्तदनुवर्ती मायूरवनपर्यन्तं गतः, तदा कतिधा मयि पृष्ठानुवर्त्तिनि पृष्टवति स एवमवादीत्—

---

वरतन्तु—( लम्बी श्वांस लेता है )

दूसरा—खेद है ।

गुरु के वचन को हठशालिता के कारण ग्रहण नहीं किया विष के समान छोड़ दिया । तब तो दुख भोगता है ॥४४॥

तीसरा—कहाँ ? कहाँ ? कहाँ ? इस प्रकार बोल नहीं सकते हैं ।

वरतन्तु—( निःश्वास लेकर ) हो, परन्तु क्या कहकर आश्रम से चला यह स्मरण करता है ?

तीसरा—यह एकाक्षर कहकर समाप्त करता है ।

दूसरा—चुप रहो; एकाक्षर मात्र स्मरण करते हो, यह मैं पहले से समाचार को जानता हूँ । ( इसमें चुप करते हैं । ) आचार्याः ! जाने के समय पुष्करिणी तक सभी हम लोग उनके साथ गए ।

दूसरा—उसके बाद मैं अकेला उसके पीछे चलेने वाला हूँ । मायूरवान तक गया तब कई बार मेरे पीछे चलने वाले के पूछने पर ऐसा कहा ।

धनं वा निधनं वाऽपि प्राप्तव्यं यत्र कुत्रचित् ।
अनासाद्य तयोरेकं नात्मनः शान्तिरस्ति मे ॥४५॥

चतुर्थः—आचार्य ! हठाचार्यस्येदं निष्कृष्टं लक्षणम् अतस्तल्लक्षणलक्ष्यभूतः कौत्सो यातु यत्र कुत्राऽपि, नाऽस्माभिः स शोचनीयः ।

तृतीयः—भ भ भ्रष्टस्य कक वकाऽम्या ग ग गगतिः ?

वरतन्तुः— पुनर्निःश्वस्य )

हन्त ! वत्साः ! प्रभाषध्वे सत्यं परमिदं शृणु
जना अवसरे प्राप्ते विनिन्दिष्यन्ति मत्क्रुधम् ॥४६॥
क्रमेण वसुधातले जनरवो ममाऽत्युत्कटो
भविष्यति सुविस्तृतो न किमपीह सन्दिह्यताम्
मुहुर्मुहुरहो ! हृदि ज्वलति तन्महाचिन्तनं
वने विततवह्निवत्किममहहा ! मयेदं कृतम् ॥४७॥

पञ्चमः—आचार्याः ! अयन्तु पूज्यपादानां शिष्यवात्सल्यसिन्धूनां कोऽप्यद्भुतः कल्लोलो यदनपराधमपि स्वं श्रीमन्तोऽपराधबाधितं विदन्ति; वस्तुतस्तु सोऽस्ति परमोऽपराधो यो गुरोराज्ञामुल्लङ्घ्य पलायितवानस्ति, धिक्तम् ।

षष्ठः—कुतः परितप्यन्ते गुरुचरणाः ! अवसरः खलु महामनीषिणं महर्षि प्रत्यपि प्रभवतितराम्, अतःपूज्यपादानां क्रोधकलुषीभवनमपि तदा नाऽनुचितमासीत् ।

अपरे—अत्र कः सन्देहः ? अत्र कः सन्देहः ?

---

धन हो अथवा नहीं जहाँ कहीं पावें या नहीं बिना पाए दोनों में से एक के बिना शान्ति नहीं ॥४५॥

चौथा—आचार्य ! हठाचार्य यह निष्कृष्ट लक्षण है । कौत्स जाँय जहाँ कहीं भी हम लोगों के द्वारा सोचने योग्य है ।

वरतन्तु—( श्वांस लेकर ) खेद है ! पुत्र ! मैं सत्य कहता हूँ । सुनो । अवसर प्राप्त होने पर मेरे क्रोध, शान्त होंगे । क्रम से पृथ्वी पर मानव की उत्कट ध्वनि विस्तृत होगी सन्देह न करें । बार-बार । हृदय में जलन होता है । महाचिन्तन दो जंगल अग्नि के समान हा हा मेरे द्वारा किया गया ॥४६–४७॥

पञ्चम– आचार्य ! विना अपराध किए भी श्रीमान् अपराधी समझ रहे हैं । यह भी बड़ा अपराध है । गुरु की आज्ञा उल्लंघन करना धिक्कार है ।

छठा—कहाँ तपते हैं गुरुचरणा ।

पूज्यपाद—क्रोध करना उचित नहीं ।

दूसरा—यहाँ सन्देह क्या है ? यहाँ क्या सन्देह है ?

वरतन्तुः—

विकारं बुद्धेः किं कथयथ रुषं युक्तमिति भो-
स्तमिस्त्रां किं ज्यौत्स्नीं रचयितुमलं हा प्रभवथ
सुतीक्ष्णं काकोलं किमिति च सुधां सङ्गुणयथ।
किमित्थं पाषाणे जनयसि शिरीषस्य मृदुताम् ॥ ४८ ॥
क्रोधाख्यमिदमत्युग्रं श्मशानं सर्वदाहकम्
किं विमृश्य च तं यूय-मुद्यानीकर्त्तुमुद्यताः ॥ ४९ ॥

( इति निश्वास्य पुनः पूर्ववत्—'अभाष्यं भाष्यते भाष्यमित्यादि रटञ्छोचति )

सर्वे छात्राः—( मूकास्तिष्ठन्ति )

वरतन्तुः—( किञ्चिद्ध्यात्वाऽधोमुखं मुखमुत्थाप्य समीपे समागतं मृगशिशुं पृष्ठदेशे हस्तेन प्रोञ्छन् रुदन् )

सामध्वनिं हरिणपोतक ! केन सृष्ट-
मुत्कर्णमुन्नतमुखं परिपास्यसि त्वम्
मातुः स्रवत्स्तनमपि प्रविहाय कौत्स-
स्तेऽसौ गतः किमु कृतं नवरतन्तुपापि ! ॥ ५० ॥

( इत्युवा दिशोऽवलोक्य ) अहो ! दिशः ! शून्यः स्थ यूयम्, दिग्देवाः ! इन्द्र ! वह्ने ! यम ! निर्ऋत ! वरुण ! वायो ! कुवेर ! ईशान ! ब्रह्मन् ! अनन्त ! वदत यूयं कस्य

---

वरतन्तुः—हे बुद्धिमान क्या विकार ? क्यों कोध करते हैं। हे पत्थर की तरह कठोर हृदय वाले फूल की कोमलता को उत्पन्न करते हो ॥४८॥

क्रोध श्मशान की तरह जलाने वाला है। विचार करें ॥४९॥

निःश्वास लेकर पहले की तरह—

सभी छात्र—( चुपहोकर ठहरे हैं )

वरतन्तुः—कुछ ध्यानकर मुखनीचे मुखउपर करके मृग शिशु के पीठ को पोछते हुए रोते हुए—

हरिण के बच्चे की सृष्टि फिर
ईश्वर कि ए। मुख उपर करके पीते हैं।
माता के स्तन को छोड़कर चले गए ॥५०॥

( दिशा को देखकर ) अहो ! दिशा शून्य है। तुमलोग दिशा के देवता इन्द्र ! अग्नि ! यम ! वरुण ! वायु ! कुवेर ! ब्रह्मण ! अनन्त ! वदल तुमलोग सस्वर वेदमन्त्रपाठ में स्नान मन्त्र को सुनते हुए।

सस्वरवेदमन्त्रपाठे स्वास्तन्मन्त्रांश्छृण्वन्तः प्रमोदपरम्परां प्राप्स्यथ ? ( शिष्यान्प्रति ) पुत्राः।

अथको युष्माकं हृदि चतुर्दशविद्या विद्योतयन्मां प्रीतिपयोधौ मज्जयन्मद्भार- मुद्वक्ष्यति ( किञ्चित्कालं नीचैः शिरसाऽश्रूणि वाहयित्वा ) गुरुभक्ते !

प्रतिभे ! आचार ! विचार ! वेदाः ! कल्प ! व्याकरण ! निरुक्त ! ज्योतिष ! छन्दः ! यूयमपि नितरां निराश्रयाः स्थ ( इत्युक्त्वा रुदन्नुत्थाय च्छात्रान्प्रति )

कौत्सस्यावर्त्तनं यावदनध्यायोऽस्तु साम्मतम्।
यात यूयं यात यूयं नो किञ्चिद् भाति मेऽधुना ॥ ५१ ॥

( इति रुदन्प्रयाति )

छात्राः—( सास्त्रा गुरुं रुदन्तमनुगच्छन्ति। सर्वे निष्कान्ताः ) जवनिकापातः

द्वितीयोऽङ्कः समाप्तः।

---

आनन्द प्राप्त करें ? ( शिष्यों के प्रति ) पुत्र ! इसके बाद तुम लोगों के हृदय में १४ विद्याओं का अर्पण किया।

( कुछ समय आंसू बहाकर ) गुरुभक्ति !

प्रतिमा ! आचार ! विचार ! वेद ! शिक्षा कल्प ! व्याकरण ? निरुक्त ! ज्योतिष ! छन्द ! तुमलोग भी निराश्रय है। ( यह कहकर रोते हुए उठाकर छात्रों के प्रति )

कौप्सः—अध्ययन करलिया

यह रोते हुए जाता है।

छात्र—( रोते हुए जाता है ) ! सभी निकल जाता है।

द्वितीय अङ्क समाप्त

# तृतीयोऽङ्कः

( राज्ञां सकाशाद् गुरुं गुरुदक्षिणादीनारयाचनार्थं प्रस्थितो विपिनवर्त्मनि गच्छन् )

कौत्सः—

ध्यातां नैव पुरा दुरापविषयाशावल्लरीवन्ध्यता
मध्येसिन्धुमहोर्म्यहो ! निपतितं वेगातिरेकादिव ।
नो रात्रौ क्व दिवा मनागपि मया निद्रालुना भूयते
धिग्धिग्धनं धन्धनं हृदि चितं चिन्ताग्निशुष्केन्धनम् ॥ ५२ ॥

कांस्कान् हन्त ! धनाऽधिनायकजनानाराध्य तेभ्यो
निजं-दुःखं दातुमुदीरयेयमसकृ-द्देहीति दृष्टं वचः ।
नादेशोऽनुसृतो गुरोर्न्न रसितं तत्सूपदेशाऽमृतं
धिङ्मां धिक्स्वदुराग्रहग्रहदशादुःखोद धावुत्प्लुतम् ॥ ५३ ॥

सूर्यादयो ग्रहाः सन्ति नवैवेत मृषा वचः
ज्योतिषे दशमो यस्माद् ग्रहोऽस्तीति दुराग्रहः ॥ ५४ ॥

नवानां सन्ति चैतेषां शान्तिमन्त्राः श्रुतौ श्रुताः ।
दुराग्रहग्रहस्यास्ति न मन्त्रः शान्तिकारकः ॥ ५५ ॥

( छन्द भङ्ग )

---

राजा के समीप में गुरुदक्षिणा देने के लिए जंगल के रास्ते से प्रस्थान करता है ।

कौत्स—चिन्ता अग्नि में हृदय लकड़ी की तरह जलता है ।
दिन-रात मुझे नींद नहीं होती है ।
दुख समुद्र में गिरा । विषय रूपी लता में बँधा हुआ हूँ ॥५२॥
हृदय धन-धन करते हुए जलता है ।
खेद है मुझको धिक्कार है । आदेश एवं उपदेश नहीं सुना ॥५३॥
सूर्योदय आदि ग्रह हैं । ज्योतिष में दशमा ग्रह है । दुराग्रह
मेरे ग्रहों के शान्ति कारक मन्त्र हैं ॥५४॥
दुराग्रह का शान्तिकारक मन्त्र नहीं है ॥५५॥

( चतुर्दिक्षु वीक्ष्य )

श्रीमन्काननदेव ! वच्मि शृणु तल्लुक्कायितः क्वासि भोः
शृण्वन्मा व्रज मूकतामिह वचो दीनातिदीनस्य मे।
गुर्वाज्ञागुरुभारतो वनपथे नातः प्रयातुं क्षमे
दत्वा दर्शनमत्र शान्तिपदवीपूर्णाध्वनीनं कुरु ॥ ५६ ॥

( इति मुहुः पठंस्तिष्ठति )

निकुञ्जपुञ्जान्तर्हितो—

वनदेवः ( स्त्रियं प्रति ) अयि प्रिये ! किमिति मदङ्कादवत्तितीर्षुरसि ?

वनदेवी—नाथ ! किमप्यवदधामि।

वनदेवः—( तूष्णीमवधाय ) कुतश्चिन्मानवीयः शब्द इव तमायाति।

वनदेवी—ननु निर्मानवेऽस्मिन्वने मानवः कुतः ?

वनदेवः—

पथभ्रष्टो भवेत्कोऽपि कान्ते ! भ्रान्त इहागतः।
अन्यथा कस्य कान्तारे मानवस्यास्ति सम्भवः ॥ ५७ ॥

---

( चारो दिशाओं में देखकर )

हे जंगल के देवता कहता हूँ सुने—कहाँ हैं ?

मैं अत्यन्त दरिद्र हूँ। गुरु की आज्ञा से दक्षिणा पूर्ति के लिए मैं जंगल के मार्ग से मार्ग से होकर गुजरता हूँ।

आप दर्शन देकर मुझे शान्ति प्रदान करें। जाने पर ॥५६॥

( यह बार-बार पढ़ते हुए ठहरता है। )

वनदेव—( स्त्री के प्रति हे प्रिये ! क्या है यह ? मेरी गोद से निकलती है।

वनदेवी— नाथ ! क्या करूँगा।

वनदेव—( चुपहोकर ) कहाँ से मानवीय शब्द आता है।

वनदेवी—प्रेमी को बुलाता हूँ।

वनदेव—इस वन में मनुष्य कहाँ से ?

कोई इस जंगल में रास्ता भूल गया है। भ्रम से यहाँ आ गया है, नहीं तो इस जंगल में मानव का मिलना कहाँ से सम्भव होगा ॥५७॥

( अन्तिमं पद्यं रटति कौत्से समीपवर्त्तिनि सति )

वनदेवी—नन्वयं प्रेयसो नामाम्रेड्यन्प्रेयांसं समाह्वयति ।

वनदेवः—( तस्मिन्दृष्टिगोचरतामुपेते अवलोक्य ) पश्य पश्य प्रिये ! कर्णातिथि —सोऽयं नेत्रातिथिर्जातः !

वनदेवी—( निर्वर्ण्य ) अये ! विप्रब्रह्मचारीव प्रतिभाति ।

वनदेवः—सत्यम्—

सव्ये भव्यकमण्डलुस्तदपरे दण्डः करे कंशुकः
कौपीनं कटिमुञ्जमञ्जु भसितं भाले विशाले सितम् ।
स्फीतं स्कन्धलसन्मृगाजिनयुतं यज्ञोपवीतं तप-
स्तेजश्चास्य तनोति मे नयनयोरालोकने कौतुकम् ॥ ५८ ॥

वनदेवी—तदयमतिथिविशेषः समागमतः, सन्तोषणीयः, यतः—

दुखिनो दुःखवेलायां व्यक्तन्तरसमागमः । The
दुःखं विभजते नूनं शान्तिमुत्पादयन्भृशम् ॥ ५९ ॥

वनदेवः—शोभनम् ।

वनदेवी—भवतु परं प्रथमन्तावदयं परीक्षणीयः, क्रमात्पुनः प्रकटीभविष्यामि ।

वनदेवः—परीक्ष्यतां निरीक्ष्यतां कीदृशोऽस्य तपःप्रभावः, अहमप्यवसरमीक्षमाणस्तावत्कुञ्जान्तर्हित एव तिष्ठन्नस्मि ।

---

अन्तिम पद्य को रटता है । कौत्स के समीपवर्तिनि होने पर

वनदेव—( दिखाई पड़ने पर देखकर ) देखो ! देखो ! प्रिये ।

कान के अतिथि ये नेत्र के अतिथि हुए ।

वनदेवी—( सङ्कुचित होकर ) ब्रह्मचारी तरह लगता है ।

वनदेवता—सत्य है । हाथ में कमण्डलु एवं पलाश की लाठी । कमर में मूँज कच्छा, लँगोटो मस्तक पर श्वेत तिलक, काँधे पर मृगचर्म, यज्ञोपवीत, मुझे देखने में कुतूहलता होती है ॥५८॥

वनदेवी—अतिथि आया हैं । सन्तोषणीय हैं क्योंकि

दुखी के दुख के समय में व्यक्त रस का समागम शान्ति को उत्पादन करता है ॥५९॥

वनदेव—अच्छा,

वनदेवी—हो, परीक्षा करने योग्य है, क्रम से पुनः प्रकट करूँगा ।

वनदेव—परीक्षण एवं निरीक्षण करें । कैसा प्रभाव है, इसकी तपस्या का मैं अवसर को देखते हुए कुञ्ज में छिपकर देखता हुँ ।

वनदेवी--यथाज्ञापयति प्रेयान् ।

वनदेव--एवमेव कुरु ।

वनदेवी--( अलक्षितैव ) वर्णिवर ! कमन्वेषयसि ?

कौत्सः--( चकितः शब्दाभिमुखं निरीक्षमाणः किमप्यनवलोक्य )

अलक्षितस्य कस्याऽयं शब्दःसौम्यः समागतः
मृगादिसङ्कुलेऽरण्ये गम्भीरेऽपि भयानके ॥६०॥
जाने नास्ति मनुष्यस्य शब्दोऽयं श्रुतिसौख्यदः
नो वा भूतपिशाचादेर्दैवतं तद्भवेद्ध्रुवम् ॥६१॥

वनदेवो--( भुवनावमोहनसौन्दर्यसम्पन्नरूपं विधाय प्रत्यक्षीभूय, समञ्जुमञ्जीरसिञ्जन--कटाक्षनिक्षेप--हाव-भावं दूरादायन्ती सस्मितं गायति--

रतिसुखमनुभव ! युवक निकामम्
गुञ्जति मञ्जुल-सुपुञ्जे मधुपकदम्बं कुञ्जे
कूजति मत्तसुकोकिलनिकरं कृतमुनिमोहनकामम् । रति०
पश्य पदं शुभसरितस्तीरे, वेतसवलयितकीरे
चल चल तत्र सुखेन मया सह क्रीडन्विहर ललामम् । रति०
शीतलतरुतलमेव यदि स्यात्ते रुचियोग्यं भोग्यम्
इह तत्रैव समेत्य मनः कुरु, शीतलमेकं यामम् । रति०
पश्य पश्य पुष्पेषु पुरः किल, पिवतो मञ्जु मरन्दम्,
रोलम्बान् स्ववधूभिः साकं, साकं श्रीमन् ! कामम् । रति०

---

वनदेवी--जैसी आज्ञा दें प्रियों को ।

वनदेव--ऐसा ही करें ।

कौत्स--( चकित होकर विना देखे शब्द के सामने देखकर )

विना देखे, किसका यह शब्द है । मृगादि सेवित गम्भीर एवं भयानक ऐसा शब्द आया है ।

मानव का यह शब्द कान को सुख देने वाला है । भूत, पिशाच आदि देवता है ।

रति सुख का अनुभव करो । भौंरे के समूह गूंह रहे हैं ।

कोयल के समूह कूज रहे हैं । देखो नदी के तट पर वेत है ।

चलो चलो वृक्ष के तले ठंढी हवा रुचिकर एवं भोगने योग्य है ।

वहीं आकर मन को शीतल करो । रति०

देखो ! देखो फूलों के मरन्द को भौंरे पी रहे हैं ।

भ्रमर भ्रमरी के साथ रमण करता है । रति०

( इति गानानन्तरं कौत्सस्य पुरि सकटाक्षनिक्षेपं समीक्ष्याधोमुखी पादाङ्गुष्ठेन मृदं खनन्ती तिष्ठति ।

कौत्सः—( विलोक्य स्वगतम् हन्त ! किमिति व्रतघ्नः समुपस्थितो विघ्नः ? ) ( प्रकाशम् ) मातः ! नमस्ते,

अमरी वा नरी वासि, कासि त्वं वद सुस्फुटम्
वितनोषि किमित्थं त्वं, लीलां दुःशीलवल्लभाम् ॥६२॥

वनदेवी—( मुखमुत्थाप्य स्मितमादधती ) युवक ! एतत्ते नवं वयः, सुघटितं शरीरम्, रमणानुरूपं रूपम्, तथाऽप्येवम्वदन्मां किं व्यथयसि ?

माद्यन्मञ्जुमरालमञ्जुलगते ! वक्षोजयुग्माऽऽनते !
कैवल्याऽधिकसौख्यकारकरते ! स्वाकुञ्चितभ्रूलते !
खेलत्खञ्जनगञ्जनाऽक्षि ! विलसद्बिम्बोष्ठि ! बाले चिरं
प्रेम्णाऽऽलिंगवराऽङ्गने ! स्मितमुखी काकाकुलाङ्गैर्मुहुः ॥६३॥

इति कथयन्मया सह कामं कामकौतुकं कलयसि, पश्य पश्य ।

विकसितनलिनानना हसन्ती सितकुसुमैः कमनीयकाननश्रीः
किसलयकरकम्पनेन कान्तं द्रुतमिव भासि भवन्तमाह्वयन्ती ॥६४॥

---

यह गाने के बाद कौत्स के आगे कटाक्षपात देखकर नीचे मुख किए गाने के बाद पैर के अँगूठे से मिट्टी को खानते हुए स्थित है ।

कौत्स—( देख कर मन ही मन ) खेद है ! व्रत के विनाशक विघ्न उपस्थित हैं । ( प्रकटरूप से ) माता ! नमस्कार है ।

देवता या मानव कौन हो स्पष्ट बोलों । इस प्रकार क्या लीला करते हो ?॥६२॥

वनदेवी—( मुख को उठाकर कुछ हंसती हुई ) युवक ! यह तुम्हारी नई जवान है एवं नया शरीर है । रमण के अनुरूप है । फिर भी इस प्रकार कहते हुए मुझे क्यों दुख देती हो ।

हंसगामिनी, स्तन से झुके अङ्ग वाली, अधिक सुख करने वाले, संकुचित भौंह लता वाले, खेलते हुए खञ्जनपक्षी को तरह आँख वाली नायिका, तिलकौर के कौर ( बिम्बाफल की ) तरह ओठ वाली, मन्द मुस्कान वाली प्रेमालिङ्गनासक्त है ॥६३॥

इस प्रकार कहते हुए मेरे साथ काम क्रीड़ा करती हो । देखो ! देखो !

खिले हुए कमल की तरह आँख वाली, श्वेत पुष्पों से सुन्दर वन की शोभा पत्ते के कम्पन से पति को बुलाती हुई सुशोभित होती है ॥६४॥

आश्लिष्यद्भिर्लता एताः पुष्पिताः प्रौढपादपैः
अङ्गनालिंगनानन्दः पुरस्तात्तेऽभिनीयते ॥६५॥
शब्दो वा रूपगन्धौ वा रसो वा न तथा यथा
स्पर्शो ददाति सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः प्रीतिमुत्तमाम् ॥६६॥
काञ्चित्सौख्य-सुधाधारां प्रवर्षतितरां हृदि
यूनां युवप्रियास्पर्शो यतः कैवल्यसोदरः ॥६७॥
तत्कामलम्पटो भूत्वा मामालिंगँहि सम्विश
कुञ्जेऽस्मिन्मल्लिकामोद-माद्यन्निन्दिन्दिरान्तरे ॥६८॥

कौत्सः—शान्तम्, देवि ! किमिदमभव्यं सर्वथाऽश्रव्यं श्रावयसि ।

संसारकाननेऽस्मिश्चरति सदा मदमत्तसिन्धुरो यः
उद्दामः किल कामस्तस्य रदद्वयं त्वमामतं भवसि ॥६९॥
विद्याभिरुग्रतपसा च कृतं पवित्रं
स्वप्नेऽपि नो कलयितुं कलुषं स्वमीहे
धर्माऽपहात्सुविकृताद्वनिताविलासाद्-
दूरं प्रयाहि तरले त्वरितं ततस्त्वम् ॥७०॥
कामादिके किल समस्तवपुर्विकारे
तुल्या भवन्ति सकलाः किल जन्मभाजः
द्वैधं दधादि मनुजेऽपरजन्मवद्भ्यो
धर्मः समस्तभुवनोदधिचन्द्र एकः ॥७१॥

---

प्रौढ़ वृक्षों के आलिङ्गन करने से ये पुषित लताएँ नायिकाओं के आलिङ्गन से प्राप्त आनन्द करती हुई सामने अभिनय करती हैं ॥६५॥

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श सभी प्राणियों को प्रीति देते हैं ॥६६॥

कोई हृदय में सुखरूपी अमृत की धारा की वर्षा कर रहा है ।

युवकों के युवती के स्पर्श ही आनन्द दे रहे हैं ॥६७॥

काम लम्पट होकर मुझको आलिङ्गन करो ।

इस कुञ्ज में नींद आने पर आनन्द मिलता है ॥६८॥

इस संसार रूपी कानन में मदमत्त होकर विचरते हैं ।

निश्चय ही उसकी उत्कट, इच्छा है ॥६९॥

विद्या कठोर एवं पवित्र तपस्या से आती है । स्वप्न में भी पाप नाश नहीं होता । धर्म नष्ट होने पर वनिता के विलास से दूर जाओ ॥७०॥

काम-क्रोधादि निश्चय ही समस्त शारीरीक विकार है ।

जन्मभाज समान होते हैं । सम्पूर्ण पृथ्वीरूपी समुद्र में धर्म ही चाँद की तरह है ॥७१॥

त्वामेव वनलक्ष्मीयमलक्ष्मीं पल्लवैः करैः
निवारयति दुश्चेष्टां नाकारयति मामिह ॥७२॥
लताश्लिष्टा इमे वृक्षा वारयन्त्यनिलेरिताः
मा मनुष्योऽपि शाखी स्यादाश्लेषविदूषितः ॥७३॥ छन्दोभङ्गः
इदं नव्यं भव्यं प्रविदितवयोरत्नमहहा !
महेलासम्भोगात्मकविषममूल्येन कृतिना
न विक्रेयं क्रेयं पुनरतुलमेतेन सुखदं
महाराज्यं धर्माभिधममलमाम्नायविषयम् ॥७४॥

वनदेवी--युवक ! वनिताविलासे भवतोदीरितो दोषस्तु परोक्षविषयः, ननु प्रत्यक्षतः परीक्ष्यतां निरीक्ष्यतां वनिताविलासः कीदृशं सौख्यं समर्पयति पुरुषायेति

( इति कथयित्वा नृत्यन्ती )—

रम्यतां रम्यतां नूनं नाऽथ नाथ ! विरम्यताम्
मया साकं सकामाऽस्मि कामं त्वां वीक्ष्य मन्यताम् ॥७५॥

( इति गायन्त्यालिङ्गितुं प्रवर्त्तते

कौत्सः—कतिपयपदानि पश्चात्प्रगत्य ) धिक्, धिक्, धिक्—

गच्छ गृहं त्वं गणिके ! किमिति करोषि कुचेष्टनं गरलगुटिके !
अन्यं श्रय ते पात्रं कामरोगपीड़या व्यतिहतगात्रम् ॥७६॥

वनदेवी—पुनस्तमेव श्लोकं गायन्ती तथैवालिङ्गितुं प्रवर्त्तते ।

---

पल्लव रूपी हाथों से वन लक्ष्मी दरिद्रता को हटा रही है ॥७२॥

वायु से प्रेरित ये वृक्ष लता से आलिङ्गित हैं । मानव भी वृक्ष के आलिङ्गन रूपी विष से दूषित हैं ॥७३॥

यह नया, भव्य महिला के साथ सम्भोग रूपी विष अमूल्य कृतिना के द्वारा खरीदने योग्य न बेचने योग्य है ॥७४॥

वनदेवी—युवक स्त्री के साथ विलास में आपके द्वारा कहा गया दोष तो परोक्ष विषय है । पुनः प्रत्यक्ष से परीक्षण एवं निरीक्षण करें । स्त्री सम्पर्क किस प्रकार का सुख देता है ।

( यह कहकर नाचती हुई )

रमण करें, रमण करें नाथ ! आराम करें ।

मैं कामासक्ता हूँ । काम तुम्हें देखकर माने ॥७५॥

( यह गाती हुई आलिङ्गन करने के लिए तैयार है ) क्या कुचेष्टा करती हो गरम गुटिका तुम्हारा शरीर कामरोग की पीड़ा से पीड़ित है ॥७६॥

कौत्सः--

पन्थानं प्राप्नुहि त्वं त्वं स्वमध्वानं श्रयेऽप्यहम् ।
गम्यतां शीघ्रं रम्यतामिति मा वद ॥७७॥
नो चेत्त्वां देवि ! शप्स्यामि लप्स्यसे येन सत्वरम् ।
उत्तरं स्वीयवादस्य निराह्लादस्य निर्भरम् ॥७८॥

वनदेवी—( नृत्यं विहाय सस्मितम् ) युवक—

नायास्यति सुखाम्भोधिरिदन्ते यौवनं पुनः ।
गमिष्यत्थैव तत्पश्चाद्गतं प्रावृट्प्रवाहवत् ॥७९॥
तस्मादागच्छ मोमेतं समेतं समयं त्यज
मां स्वीयां दयितां विद्धि लुण्ठानन्दमहोत्सवम् ॥८०॥
कदाचित्स्वमतेन त्वं समर्जितसुपुण्यतः
स्वर्गं समेत्य देहान्ते सुधामास्वादयिष्यसि ॥८१॥
इदानीं पाययिष्यामि त्वामत्रैव महासुधाम्
अवश्यं तां निपीय त्वं न स्वर्गं कामयिष्यसे ॥८२॥
वसुधैव सुधागारं मुधा भारं वहस्यहो !
श्रेयः सम्भारशैलस्य दिवि तत्प्राप्तिवाञ्छया ॥८३॥
यावदत्रत्यममृतं निपीतं न त्वया युवन् !
तावत्स्वमृगतृष्णार्थी व्यर्थं भ्राम्यन्मृगायसे ॥८४॥

---

वनदेवी--एक श्लोक को गाती हुई उसी प्रकार आलिङ्गन के लिए तैयार है। रास्ते को प्राप्त करो। अपने रास्ते का सहारा लो। जाओ, जाओ शीघ्र रमण करो मत बोलो ॥७७॥

हे देवी ! सोऊँगा जिससे शीघ्र पाओगे अपनी निर्भरता को ॥७८॥

वनदेवी—( नाच छोड़ कर मन्द मुस्कान के साथ ) युवक यौवन, सुख रूपी समुद्र में वर्षा के प्रवाह की तरह चला जायगा। इसलिए लुण्ठानन्द महोत्सव को त्यागो। मेरी पत्नी को जानो। तुम अपने विचार से पुण्य अर्जित करो। मरने के बाद स्वर्ग जाकर अमृतास्वादन करोगे। इस समय तुमको महाअमृत पिलाऊँगा। अवस्य ही उसे पीकर स्वर्ग की कामना नहीं करोगे ॥७९-८२॥

पृथ्वी ही अमृत का भण्डार है। भार बहन करते हो। स्वर्ग में कल्याण प्राप्ति की इच्छा करोगे। हे युवक। जब तक यहाँ अमृत पान नहीं करोगे तब तक मृगा की मृग तृष्णा में भ्रमण करोगे ॥८३-८४॥

त्यज हठमथ विद्वन्नद्य सद्यः समेतं
सुखमनुभव भूयो भूपदौर्लभ्यभूमिं ।
इदमखिलवनं मे नन्दनं त्वत्कृतेऽस्तु
मदधरगसुधा ते स्वःसुधा स्यादुपेहि ॥८५॥

( इति पुनरालिङ्गितुं प्रवृत्ता )

कौत्सः—( तदागमनक्रमेण पश्चात्प्रगच्छन्स्त्रगतम् ) हन्त ! किं कर्त्तव्यम्, शापं प्रददामि चेत्तपःक्षयो भवति, न प्रददामि चेन्नेयं स्त्री विरमतीत्युभयतः पाशा रज्जुः (किञ्चिद्विरम्य) अस्तु, एतदीयदुर्भावनाऽनुसरणजन्यकल्मषमहानिगडबन्धनोपेक्षयेदानीन्तनः किञ्चित्तपः क्षयोऽप्यतपः क्षय एव ( प्रकाशम् ) देवि ! विरम विरम, गच्छ गच्छ नेच्छाम्यहं धर्माऽपहमिदं दुष्कर्म कर्त्तुम् ।

वनदेवी—नैवम्भवितुमर्हति ( इति सस्मितं पूर्ववदालिङ्गितुमागच्छति ) ।

कौत्सः—( पश्चाद्गच्छन्नेव ) देवि ! किमित्थं त्वं नास्मात्पापाद्विरमसि ? न दुःसाहसं त्यजसि ? न मामकीनं वचो गणयसि ? गच्छ, दूरं गच्छ ।

वनदेवी—नैवं भवितुमर्हति ( इति तथैवागच्छति )

कौत्सः—( सभ्रूभङ्गम् ) दुष्टे ! किं त्वं मां तृणाय मन्यसे विरम विरमास्मात्पापात् ।

---

हठ को त्यागो, सुखानुभव करो फिर राजा को दुर्लभ भूमि को प्राप्त करो। इस सम्पूर्ण वन में आनन्द करो। मेरे अधर सुधा का पान करो ॥८५॥

( फिर आलिङ्गन करने के लिए तैयार है। )

कौत्स—( तब आगमन के क्रम से वाद में जाते हुए मन हो मन ) खेद है; क्या करना चाहिए, शाप देता हूँ, तो तपस्या का क्षय होगा। यदि नहीं देता हूँ, तो स्त्री विरमग करती है। ( कुछ रुककर ) हो यह दुर्भावना के पीछे चलने से पाप होगा तप का क्षय होगा ( प्रकट होकर ) देवि ! रुको, रुको, जाओ, जाओ

ऐसा नहीं हो सकता है। ( इस प्रकार मन्द मुस्कान के साथ पहले को तरह आलिङ्गन करने की इच्छा करता है। )

कौत्स—( बाद में जाते हुए ही ) देवि ! क्या इस प्रकार तुम इस पाप से विरमित नहीं होते हैं। क्या दुःसाहस को नहीं त्यागो।

मेरी बात की गणना नहीं करते हो जाओ दूर जाओ।

वनदेवी—ऐसा नहीं हो सकता है। ( उस प्रकार ही आता है। )

कौत्स ( भौंह सञ्चालन के साथ ) दुष्ट ! क्या तुम मुझे घास की तरह समझते हो। इस पाप से निरमित होओ।

वनदेवी--कथमित्थम्भवितुमर्हति ?

कौत्सः-( सदंष्टोष्ठभ्रूभङ्गम् ) इत्थमित्थम्भवितुमर्हति ( इति शापं दातुं कमण्डलोश्चुलुके सकुशं जलं गृह्णाति )

वनदेवी--( सजलचुलुकमणिबन्धं गृहीत्वा )

क्षम्यतां क्षम्यतां वर्णिन् ! परीक्षणविधित्सया
न कामलिप्सया किञ्चिल्लपितं तन्न शप्यताम् ॥८६॥

कौत्सः—( शान्तो निर्वर्णयन् )

कामत्रभवतीं तावद्वेद्मि वेदय साम्प्रतम् ।

वनदेवी—अहमेतद्वनस्याधिठात्री देव्यस्मि ( इति कथयन्ती करं त्यजति । )

कौत्सः—

अहो ! तत्प्रणमामि त्वां मातर्मेऽभूदसाम्प्रतम् ॥८७॥

( इत्युक्त्वा तत्पादयोः प्रणमति )

चिरञ्जीव चिरञ्जीव चिरं धर्मधुरां धर
धुरीणोऽसि धराधन्य ! धर्मकर्मवतां नृणाम् ॥८८॥

कौत्सः—( साञ्जलिः )

---

वनदेवी--यह कैसे हो सकता है ?

कौत्स—( दाँत पर ओठ रहकर ) ऐसे हो सकता है। ( इस प्रकार शाप देने के लिए कमण्डल के जल से कुश सिक्त कर छीड़ता है। जल सहित कोवा बाँधकर )

क्षमा करें २ हे ब्रह्मचारि ! परीक्षण एवं इच्छा की पूर्ति के लिए कुछ बोलता है शाप नहीं दें ॥८६॥

कौत्स— शान्त होकर लज्जाविहीन होकर )

इस समय आपको जानता हूँ।

मैं वन की अधिष्ठात्री देवी हूँ। ( यह कहती हुई हाथ त्यागती है। )

कौत्स – अहो ! प्रणाम करते हो। ( यह कर पैर पर गिरता। ) ॥८७॥

चिरञ्जोव धर्म की धूरि को धारण करने वाले हो। पृथ्वी पर धन्य है। धर्मकार्य करने वाले लोगों के आगे गिने जाने वाले हैं ॥८८॥

वनदेवी—

कौत्स—( हाथ जोड़कर )

अशिष्टतापराधात्त्वं स्वाराध्यापि विराधिता
नाराधितासि तस्मान्मे क्षमस्वात्यन्तधृष्टताम् ॥८९॥

वनदेवी—नन्वेषा विराधनापि स्वगुणेनाराधनामङ्गीकरोति, तद्विप्र ! त्वय्यहं परं प्रसन्नास्मि, वद को भवान् ? कुतः समागम्यते भवता ?

कौत्सः—एषोऽहमस्मि मातः ! कौत्सनामा कुलपतेर्वरतन्तोः शिष्यः, आश्रमादेव देवि ! समागच्छस्मि ।

वनदेवी—किन्निमित्तं भवान्भयानकेऽस्मिन्निर्ज्जने वने वम्भ्रमीति ?

कौत्सः—आर्ये ! किं कथयेयम् ? यथा यथा दौर्भाग्यदेवो मां नाटयति, तथा तथाऽहं नटन्नपरिचितेऽस्मिन्विपिनप्रान्ते पर्यटन्पथश्रान्तोऽस्मि, बुभुक्षा पिपासा च मां साम्प्रतं बाधते, ननु विश्रान्तः शान्तः सर्वं निवेदयिष्यामि ।

वनदेवी—( स्वगतम् ) अहो ! वेदनावेदकं वाक्यं व्यथयति, धिग्दुर्विधातारं विधातारम्, अस्तु, तावदिमं विविधवार्त्तया रमयामि यावन्नेतव्यसर्वसौविध्यस्थानं गमयामि ( प्रकाशम् ) भद्र ! इदमस्ति विश्रामस्थानम, किञ्चिन्मात्रं व्रज, अधुनैव त्वां भोजयामि विमलं जलं पाययामि, इत इत एहि ( इति पन्थानं निर्दिश्य किञ्चिद्दूरं गत्वा निर्दिशन्ती ) पश्य पश्य समागतमिदन्ते विश्रामस्थानम्—अहह !—

कूजत्कलापि-कलकण्ठ-रसाल-माला
गुञ्जद्भ्रमद्भ्रमरवल्लरिपल्लवाऽला
मन्दानिलाऽऽहृतजलेरितकञ्जमञ्जु-
कासारतीरविततातिचकास्ति सेयम् ॥९०॥

अत्यन्त धृष्टता को क्षमा करो। अपने आराधना करने पर अशिष्टता और अपराध है ॥८९॥

वनदेवी—विप्र ! अत्यन्त प्रसन्न हो, बोलो कौन है आप ? कहाँ से आये हो।

कौत्स—यह मैं हूँ।

कुलपति वरतन्तु का शिष्य आश्रम से ही देवि ! आता हूँ।

वनदेवी—किस कारण से इस भयानक निर्जन वन में घूमते हो।

कौत्स—आर्ये क्या वह क्या ? जैसे-जैसे दुर्भाग्य मेरे देवता मुझको नचाता है। वैसे-वैसे मैं नाचते हुए परिचित जंगल में घूमते हुए रास्ते में थक गया हूँ। सब कहूँगा।

वनदेवी—( मन ही मन ) अहो ! दुख बताने वाली बात कहता है।

विधाता को धिक्कार है। विविध बात से रमण करता हूँ।

सुविधा पूर्ण स्थान जाता हूँ ( प्रकट होकर ) भद्र !

यह विश्राम का सम्बन्धी

आम्र वृक्षों पर कोयल कूक रही है। भ्रमर गूँज रहे हैं। धीरे-धीरे हवाओं की चोट से जल झिलमिल करता है। इससे तट सुशोभित होता है ॥९०॥

अस्या मनोरमतमं बहुसौरभाढ्यं
प्रच्छायशीतलतलं सुविरामयोग्यम्
निःसीम-शान्ति-सहितं महितं प्रकृत्या
विश्रम्यतामिह सुखेन चिरं यथेच्छम् ॥९१॥

एतानि पश्य परितः पवनेरितानि
गुञ्जन्मधुव्रतलतानि भृतानि पुष्पैः
कुञ्जानि निर्झरसुझङ्कृतिझङ्कृतानि
भव्यानि भव्यग ! भवादृशवल्लभानि ॥९२॥

कौत्सः--( वनदेव्या सह अत्र गत्वा निर्वर्ण्य ) अहो ! निकामं कान्तं शान्तं स्थानमिदम् दर्शनमात्रेण नान्तं प्रयाति प्रीतिपरम्परायाः स्वान्तम् ।

वनदेवी--( आकाशात्पतत्कुशासने कौत्सं समुपवेश्य ) विप्रवर ? अत्र स्थित्वा कन्दं वा मूलं वा फलम्वाऽलं समास्वाद्यताम्, निपीयतां मरन्दमधुरं शीतं स्फीतं पयः ।

स्वागतन्ते समेतस्य पञ्चमस्वरतः पिकाः
भ्रमरा मञ्जुगुञ्जन्तो वितन्वति विशेषतः ॥९३॥

तदेते निर्झरा नूनं वर्द्धयन्तो ऽनुमोदनम्
कुर्वन्ति निर्भरं विप्र ! निनदैः स्वैर्निरन्तरम् ॥९४॥

वृक्षाः फलभराऽऽनम्राः फलकन्दयुता लताः
उपदान्ते प्रदास्यन्ति सर्वमेतद् गृहाण भोः ! ॥९५॥

---

पेड़ की शीतल छाया में स्वेच्छा से सुख से विश्राम करें। निःसीम शान्ति प्राप्त करें। यह शीतल तल विराम के योग्य है ॥९१॥

देखो चारो ओर वायु से प्रेरित गूंजते हुए भौंरे पुष्पों के समूह का रस ले रहे हैं उसकी आवाज से झन-झनायमान प्रतीत हो रही है ॥९२॥

कौत्स--( वनदेवी के साथ वहाँ जाकर निःसंकोच भाव से ) अहो अत्यन्त रमणीय ( शान्त ) यह स्थान है। दनमात्र से अन्त नहीं जान पड़ता है।

वनदेवी--( आकाश से गिरते हुए कुशासन पर कौत्स को बैठाकर विप्रवर ? यहाँ रहकर कन्द-मूल, फलादि खाएँ। मधुर एवं शीत मरन्द पीयें।

स्वागत के अन्त में कोयल पञ्चम स्वर से एवं भौंरे गुज्जार करने लगे ॥९३॥

झरना अपनी ध्वनि से निरन्तर आनन्द देने लगा ॥९४॥

वृक्ष फल से झुक गये। लताएँ फल कन्दादि से युक्त हो गयीं। ये सब आप ग्रहण करें ॥९५॥

कौत्सः—सर्वं प्रसादतस्तत्र भवत्या एव, नन्वलङ्क्रियतामासनान्तरं मातः !

वनदेवी—वत्स ! पलपञ्चकमात्रं तिष्ठ इयभागतैवास्मि इति कथयन्ती निकुञ्ज-पुञ्जान्तर्हिता पलपञ्चकानन्तरं प्रत्यक्षं भूय,कन्दमूलफलपानीयपुटकानि कौत्साग्रे स्थापयित्वा—

इदं कन्दं मूलं सलिलमथ सौम्यामलफलं
तव प्रीत्यै प्रीत्या द्विजवर ! वनान्तादिह मया ॥
समानीतं नीतं कुरु तदविगीतं कुरु तथा
वनीयं मे स्थानं कुरु च सफलां मां श्रुतिनिधे ! ॥९६॥

( इति सर्वं समर्पयन्ती साञ्जलिः पृच्छति—भद्र ! भूयः किमपरं समानीयताम् )

कौत्सः—अतः परं किमानेतव्यम् ?

वनदेवी—भद्र ! दूरादागतोऽसि, दिनद्वयमपि निवसन्नलङ्कुरु काननम्, निराकुरु मार्गश्रमम्, तवेयं वनस्थली, यथासमयमत्र नित्यं नियमं सम्पादय, न तेऽत्र किञ्चिदपि किञ्चिदपि-मत्प्रभावाद्भयं समुपस्थास्यते समुपस्थास्यते च ते पुरोऽयाचितमेव हरित्कुशकु-सुमसमिदादिकं सकलमेवावश्यकं वस्तु तदस्तु ते शिवम्, परश्वः प्रभाते पुनरहमत्रैवाऽस्मि ( इत्यलक्षिता भवति )

कौत्सः—( निषणयन् ) अहह ! अन्तर्हिता मे हिता ( चतुर्दिक्षु दृष्ट्वा ) तर्हि सेवाहमपि पुरोवर्त्तिषु कुञ्जेषु कुर्हिचदन्तर्दधामि, शीतलयामि शरीरम्, ततः पुनराचामास्मि

---

कौत्स—इस आसन पर बैठें ।

वनदेवी—पुत्र ! पाँच मिनट तक ठहरें यहाँ आता हूँ यह कहती हुई कुञ्ज को समूह के भीतर से गायब हो गई । पाँच मिनट के बाद आँखों के सामने होकर कन्दामूल फल पत्ते के दोनें में लेकर रखकर

हे वेद समुद्र !

यह कदमूल फल जलादि तुम्हारी प्रसन्नता के लिए है । यह मैं वन से लाया हूँ । मेरे वन स्थान को सफल कीजिए ॥९६॥

यह सभी समर्पण करती हुई पूछती हुई—भद्र ! फिर दूसरा लावें ।

कौत्स—इससे बढ़कर क्या लाना चाहिए ।

वनदेवी—भद्र ! दूर से आए हो, दो दिन इस जंगल में रहे, रास्ते के श्रम को दूर करें तुम्हारी यह वनस्थली है । उचित समय पर यहाँ निमम करें । यहाँ कभी भी और कुछ भी मेरे प्रभाव से अभय उपस्थापिर करें । सामने बिना माँगे ही हराकुश, फूल, हवन की लकड़ी आदि सम्पूर्ण सभी आवश्यक वस्तुएँ उपस्थित हैं । आपका कल्याण हो परसों सुबह में मैं यही रहूँगी । यह कहकर गुम हो गई ।

कौत्स—( निःसंकोच भाव से ) अहह ! अन्तर्हित हो गई मेरे हित के लिए

( इत्युत्थाय कुशासनादिकं गृहीत्वा ) प्रथमं कमण्डलुर्जलेन पूरयितव्यः ( इति जलाशयाभिमुखं प्रचलति ) सर्वे निष्क्रान्ताः । जवनिकापातः ॥

तृतीयोऽङ्कः समाप्तः ।

---

( चारों दिशाओं में देखकर ) तो सामने मैं भी कुञ्ज में अन्तर्हित हो जाऊँगा । शरीर को ठंढा करता हूँ । यह कहकर कुशासन को लेकर ) पहले कमण्डलु के जल से

सभी निकल जाते हैं । परदा गिरता है ।

तीसरा अङ्क समाप्त होता है

●

# चतुर्थोऽङ्कः

स्थानम् —पूर्वोक्ता बनस्थली, समयोऽपराह्णः, तत्र कुशासनस्थः—

कौत्सः—( स्वगतम् ) नन्वत्र निवसतो मे दिनद्वयं व्यतीतम्, तृतीयोऽयं दिवसः, नायाता मे भागधेयं माता, अद्याऽस्त्यवश्यं प्रस्थातव्यम् ।

वनदेवी—( निकुञ्जन्निःसृत्याग्रे तिष्ठति )

कौत्सः—एहि देहि दिव्यं दर्शनं मातः ! ( इत्युत्थाय प्रणमन् ) समास्यताम्, नामैवात्रभवत्याः प्रजपन्नासम्, तस्यैवैतत्फलं यद्दिव्यदृष्टिकादम्बिनो वर्षति काञ्चित्कृपापीयूषधाराम् ।

वनदेवी—( हस्तं धृत्वा, आस्यतामित्युपवेश्य ) अपि स्वस्थोऽसि तात ? अपि सुगता ते रजनी ? अपि सुविधया प्रसुप्तम्, अपि विलुप्तं पथश्रमपारवश्यम् ? अपि मुनिजनसर्वस्वभूते परमपूते स्वास्थ्यहेतुभूते ब्राह्ममुहूर्ते सुप्रबोधनधनं सङ्गृहीतम् ? समनुस्मृतं तदा स्मर्त्तव्यम् ? सूत्थितं तात ? सुस्नातम् ? सुजप्तम् ? सुहुतम् ? दैवतं पूजितम् ?

---

स्थान—पहले कही गई वनस्थली दोपहर में कुशासन पर बैठा हुआ ।

कौत्स—( मन ही मन ) यहाँ रहता हुआ मैं दो दिन बिताया ।

तीसरा दिन—मेरी माता नहीं आई आज अवश्य ही प्रस्थान करना चाहिए ।

वनदेवी—निकुञ्ज के आगे ठहरता है ।

कौत्स—आइए, दर्शन दीजिए माता । ( यह कहकर उठकर प्रणाम करते हुए ) आश्वासन दें । वर्षा होती है ।

वनदेवी—हाथ पकड़कर, यहाँ बैठकर, क्या स्वस्थ हो ! पुत्र ! क्या रात्रि बीत गई ? सुविधा से सो गया, विलुप्त हो गया । मुनि जन के सर्वस्वभूत प रमपवित्र स्वास्थ

सुभुक्तम् ? सुपीतम् ? स्वासितम् ? जपतस्ते तपोविघ्नविधायकानि रक्षांसि तु नायातानि? ? अपि प्राप्तमिच्छामात्रेण प्रासव्यन्तावदयाचितं यथाकथितं वत्स !

कौत्सः—सर्वमेव शोभनमभूत् ।

वनदेवी—तथाऽपि प्रवसतस्ते प्रवासक्लेशास्तु दुष्परिहरा एव, प्रवासपरम्परा हि पराभवति प्रभूनपि ।

कौत्सः—देवि ! अहन्त्वन्तेवासी भवतीव वनवासी स्वत एव शश्वत्प्रवासी, कथम्पुनः प्रवासिनोऽपि सम्भवेत्प्रवासक्लेशः ? अहह !—

शान्ता स्थलीयमखिला परितः प्रकृत्या
भूयान्प्रभाव उत भाति शुभे ! भवत्याः
क्लेशोऽत्र नो भवितुमर्हति नामतोऽपि
क्लेशोऽस्म्यहो ! परमहं स्वयमेव मातः ! ॥ ९७ ॥

( इति निःश्वसन्दुःखं नाटयति )

वनदेवी—( पुरः समुपविश्य हस्तसङ्केतेन ) वर्णिन् ! शान्तो भव, कथय कीदृशस्ते वृत्तान्तः ? कुतस्ते स्वान्तं शान्तं न प्रतीयते ? किमिव परमचिन्तित इमाभासि ? अहह ! योगाभ्याससञ्चितं ते शारीरं तेजोऽपि मन्ये मालिन्यमिवावहति ।

कौत्सः—देवि !

---

के कारज ब्राह्ममुहूर्त में जगना एसा करें । मनुस्मृति का स्मरण करें । पुत्र ! ठीक से रहो ! ठीक से स्नान करो ! ठीक से ध्वन करो, तपस्या में विघ्न देने वाले क्या राक्षस तो नहीं आए हैं । इच्छा मात्र से प्राप्त करने योग्य है ।

कौत्स—सब अच्छा हुआ ।

वनदेवी—फिर भी परदेश का दुख असहनीय है । परदेश का दुख स्वामी क भी दुखी कर देता है ।

कौत्स—देवि ! मैं परदेशी छात्र हूँ । चिर काल से परदेश में हूँ ।
परदेशी भी परदेश के क्लेश को सहलेता ही है ।
यह सम्पूर्ण शान्त स्थली है । चारों ओर से प्रकृति से वातावरण प्रभावित है ।
यहाँ थोड़ा भी क्लेश नहीं होता है । स्वयं ही मैं क्लेश हूँ ॥९४॥
यह निश्वास लेकर दुख का नृत्यकरती है ।

वनदेवी—( सामने ठीक से बैठकर हाथ संकेत से ) ब्रह्मचारि ! शान्त होओ । कहो क्या समाचार है ? क्यों आपका अन्तः करण शान्त नहीं बुझा रहा है ?

अत्यन्त चिन्तित जान पड़ते हो क्यो ? अहह ! योगाभ्यास से मजबूत आपके शरीर का तेज भी मलिन हो रहा है ।

कौत्स—देवि !

गुरूग्रकोपज्वलनेन्धनीकृता-
न्मत्तः स्फुलिङ्गायितप्रियं वचः
दग्धं विधास्त्ययि निर्गतं तव
दयार्द्रमप्याशु मनोवनं शुभे ! ॥ ९८ ॥

वनदेवी—( स्वागतम् ) अहो ! मर्मभेदि वचनम् ( प्रकाशम् ) भद्र ! कीदृश उग्रो गुरोः कोपज्वलनो यत्रेन्धनीभूतो भवान् ?

कौत्सः—भगवति ! एषोऽहमाचार्याच्चतुर्दश विद्याः समध्यैषि ।

वनदेवी—चिरञ्जीव वत्स ! चतुर्दशविद्याया विद्वानस्ति भवान् ?

कौत्सः—ततो मातः ! समुपागते विद्याव्रतोभयस्नातकस्य मे समावर्त्तनसमयेऽहं गुरवे दक्षिणार्पणाय समुद्यतोऽभूवम् ।

वनदेवी—शोभनं कृतम् ।

कौत्सः—तदिदं देवि ! शोभनमप्यशोभनं जातम् ।

वनदेवी—हन्त ! तत्कथम् ?

कौत्सः—तदेव तु कथनीयमस्ति श्रूयताम् ।

वनदेवी—शान्तम् ।

कौत्सः—तदेवं गुरुदक्षिणार्थं परं प्रस्तोतुं मामाचार्यो वारम्बारमवारयत् ।

वनदेवी—कारुणकस्तर्हि तत्र भवान् ।

कौत्सः—परमकारुणिकः स मे मातराचार्यवर्यः ।

---

हे कल्याण कारिणे ! आपका मन रूपी वन दया से आर्द्र है ।

गुरु के क्रोधाग्नि में इन्धन की तरह हृदयादि इन्द्रियाँ जलेंगी ॥९८॥

वनदेवी—( मन ही मन ) हे ! मेरे वचन को भेदन हुआ । ( प्रकटरूप से ) भद्र ! किस प्रकार गुरु के क्रोधाग्नि में आप लकड़ी की तरह हैं ।

कौत्स—भगवति ! मैं चौदह विद्याओं को पढ़ लिया ।

वनदेवी—चिरञ्जीव पुत्र ! क्या चौदह विद्याओं के विद्वान आप हैं ?

कौत्स—तो हे माता ! विद्या और व्रत दोनों के स्नातक मैं अपने समावर्तन के समय गुरु दक्षिणा के लिए निवेदन किया ।

वनदेवी—अच्छा किया ।

कौत्स—तो हे देवि ! अत्यन्त अच्छा ही हुआ ।

कौत्स—तो जो कहना है सो सुने ।

वनदेवी—शान्त हो ।

कौत्स—मैं गुरुदक्षिणा के लिए आचार्य को बार-बार प्रस्तुत किया ।

वनदेवी—हे दयालु तो क्या हुआ ?

कौत्स—अत्यन्त दयालु उन्होंने इन्कार किया ।

वनदेवी—हुं ततस्ततः

कौत्सः—ततो यथा यथा स मां वारितवांस्तथा तथाऽहं पुरा तदर्थं कृतसङ्कल्पः परमदवीयसीमाग्रहपदवीमनुसृतवान् ।

वनदेवी - निषेधपदवीमनुसृते गुरौ तदर्थमाग्रहपदव्या अनुसरणन्ते न समीचीनमभूत्, हुं ततः ?

कौत्सः—ततस्तस्यां पदव्यां सुदूरमागतोऽहं हन्त ! नितान्ताशान्तस्वस्वान्तसिन्धोरुत्कण्ठातिशयसमीरसमीरिवृत्तिवीचिनिचयं रोद्धुं न पारितवान् ।

वनदेवी—हन्त ! ततः परं वत्स !

कौत्सः—ततः परं परमकारुणिकस्याऽप्यकारुणिकस्येव श्री गुरोः शब्दमात्रतोऽपि गुरुदक्षिणाग्रहमसहमानस्य वैश्वानरसमानस्य तद्ग्रहणाय दुराग्रहसीमानं समुल्लङ्घयन्तं मां प्रति विशालं क्रमप्रवृद्धं मानक्रोधज्वालजालं समुज्जृम्भितम् ।

वनदेवी— धिग्धिङ्मुनिमृगाङ्कमपि कलङ्कयन्तं क्रोधकलुषम्, ततः परं तात !

कौत्सः—ततः परं तस्मिन्नहं पङ्कायितः ।

वनदेवी—( कर्णयोस्तर्ज्जन्यौ निधाय ) शान्तं शान्तम् ( निश्वस्य ) अथ पापिन्या मया कथङ्कारं पतङ्गायितो भवानित्यश्रोतव्यमपि श्रोतव्यम् ।

कौत्सः—अथ तत्क्षणमेव प्रकम्पमानाधरं दन्तैः सङ्खण्डयन्निवाचार्यवर्यो मामध्यापितचतुर्दशविद्यासम्बन्धिचतुर्दशकोटिमितदीनारगुरुदक्षिणाऽऽनयनं समादिक्षत् ।

---

कौत्स—मैं बहुत दूर आ गया । शान्त हृदय समुद्र में उत्कण्ठा रूपी तरंगों को रोक नहीं पाया ।

वनदेवी—खेद है ! इसके बाद हे पुत्र !

कौत्स—अत्यन्त दयालु गुरु देव जी क्रोध से दुराग्रह की सीमा को लांघने वाले मेरे प्रति क्रोध ज्वालाओं को दिखाया ।

वनदेवी—धिक्कार है क्रोध को, जो मुनि मृगाङ्क को भी कलङ्कित किया । इसके बाद क्या हुआ पुत्र !

कौत्स—इसके बाद में कीचड़ में फंस गया ।

वनदेवी—( कान मचोड़कर ) मुझ पापिनी को धिक्कार है, जो अश्रवणीय बात को सुनता हूँ ।

कौत्स—क्रोध से कम्पित अधर को दाँतों से खण्ड-खण्ड करते हुए, चौदह विद्याओ का मूल्य चौदह करोण स्वर्णमुद्रा कहा ।

वनदेवी—( निःश्वस्य ) आचार्यं कथं कलङ्कयेयम् ? क्रोधः खलु कलङ्कपङ्कपङ्किलः कर्तुं योग्यः, तद्विप्र ! महाभारोऽयं भवता स्वमेव नीतः ( इति मस्तके हस्तं निःक्षिपति ) ।

कौत्सः—तदिदं मातर्गुरवे देयं तावत्तावद्धनं नितान्तनिर्द्धनोऽहं कथङ्कारं कुतः समानेष्यामीतिचिन्ताचितायां जीवोऽयमहर्निशं तदाप्रभृति शुष्कसरलतरुरिव दह्यतेतरां केनाऽपि दुर्दैवदाहकेन ।

वनदेवी—धिग्दुर्दैवम् ।

कौत्सः—एषोऽस्ति मे मातर्दुःसमाचारः ।

वनदेवी—( निःश्वस्य ) अथ तदर्थं तात ! क्व प्रस्थितो भवान् ?

कौत्सः—

तदथ सकलभूमीशास्तृतो याचनाऽर्थं
विपिनसुरि ! समस्ते भूतले भ्रान्तिहेतोः
मम गमनमिदानीमस्ति शस्तप्रभावे ?
निखिलमुदितमेतत्स्वस्य वृत्तं त्वदग्रे ।९९।

वनदेवी—अवगतं सर्वम् ! भद्र ! तच्चिन्तैव त्वामिदानीं नितान्तमशान्तं करोति, हन्त !—

---

वनदेवी—( निश्वास लेकर ) हे आचार्य क्यों ऐसा कलङ्क ? ऐसा क्रोध, जो कलङ्करूपी कीचड़ में फँसाने योग्य हैं ।

यह महाभार स्वयं ही अपने द्वारा किया गया । (यह मस्तक पर हाथ रखकर)

कौत्स—अत्यन्त दरिद्र मैं कहाँ से उतना धन लाउँ । चिन्ता चिता में दिन-रात जल रहा हूँ ।

वनदेवी—धिक्कार है दुर्भाग्य को ।

कौत्स—यह मेरा दुःसमाचार ।

वनदेवी—( निःश्वास लेकर ) इसके बाद उसके लिए पुत्र । कहाँ प्रस्थान किया ? भगवान !

मैं भीख माँगने के लिए पहले सम्पूर्ण पृथ्वी पर चलूंगा मेरा जाना भ्रान्ति हेतु होगा । सम्पूर्ण समाचार तुम्हें सुना दिया ।।९९।।

वनदेवी—जान गया क्रोध को भद्र ! निश्चय ही तुम शान्त रहो चिन्ता और चिता के रूप भेद हैं । चिन्ता भयानक है ।

सैषा चिताचयचिरन्तनरूपभेद-
श्चिन्ता भयानकरसस्य विभावभूता
या चिन्तितस्य हृदयं हतरङ्गभूमिं
सम्प्राप्य सम्विरचयत्यखिलां स्वलीलाम् ॥१००॥
चिन्ताचक्रं निम्नगानिम्नभागे
पाथश्चक्रं साम्यमेतद्द्वयस्य
संसारेऽर्मिस्तत्र झम्पानिपातः
प्राप्ते काले कस्य न स्याज्जनस्य ॥१०१॥

वत्स ! किमस्ति तद्भूतं यच्चिन्तया नपराभूतम्, परमथ शान्तो भव, मा किमपि चिन्तय, अलमलं सकलभूतीतलभ्रमणेन, किमिव राजद्वारशतं समेत्य भङ्गभयभ्रष्टां याच्ञां विधायात्मानमाकुलीकर्त्तुं परिकरं बध्नासि ?

कौत्सः—( दुखं नाटयन् ) आर्ये ! का पुनर्दुराग्रहदशागृहीतविग्रहस्य कुत्सित-स्यैतस्य कौत्सस्य कृते सम्भवेदन्या गतिः ?

वनदेवी—शान्तम्, विप्र ! किमिति कथयन्व्यथयसि? अस्ति ते महती गतिः ( कदाचिद्विश्वजिद्यज्ञे वितीर्णवित्तो रघुरप्येतावद्धनदाने समर्थो न भवेदिति स्वमुखे-नैवायं तन्नाम नामोच्चरतामितिभावनया प्रथमं तन्नामकथने सशङ्का सती ) याहि, एकमात्रं वदान्यतागुणैकपात्रं राजानं संश्रय, माऽखिलं भूतलं भ्रमन्प्रमत्तो भव ।

कौत्सः—( याचितव्यधनस्याधिकतमत्वेन चित्तस्योद्विग्नतया रघुमस्मरन् ) हन्त !

एतावद्वित्तमेकस्मात्कस्मादभ्यर्थये नृपात् ।
कोऽस्त्येतावत्सम्प्रदाने समर्थः पृथिवीपतिः ॥१०२॥

वनदेवी—( अथाऽपि स्मृत्वा स्वयमेव नामोदीत्येदिति सम्भावयन्ती ) ननु वर्णिन्नेक एवाऽस्ति समर्थः ।

---

जिसे सोचकर हृदयरूपीरङ्गभूमि होती है। सम्पूर्ण लीलाएँ समास होती है।

पुत्र ! क्या ही शान्त होएँ। चिन्ता न करें। सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमना बेकार है। किसी राजदरबार में जाकर याचना करें, नहीं तो व्याकुल हो जाओगे।

कौत्स—( दुख का नाटक करते हुए ) आर्ये !

खेद है। कौन राजा ऐसा है ? जो कौत्स को दान देने में समर्थ हो सकता है। किस राजा से धन की याचना की जाय ? ॥१०२॥

कौत्सः—( अथाऽपि पूर्वोक्तकारणेनास्मरन् )

एकं यं सकलाऽचलोच्चतिलकं राजानमत्यद्भुतं,
याच्यीकर्तुमहो ! महाधनकृते नितान्तं निजम्-
आत्मानं स्वपराधवाधिततमं तेनावनीशेन कि
सद्भाग्यं क्रियतेऽतिपूतनगरं नाथास्ति तस्याथ किम् ॥१०३॥

वनदेवी—( स्वगतम् ) हन्त ? देयत्वेन प्रतिश्रुतस्याल्पस्यापि धनस्य भूयान्भारो भवति भव्यजनस्य कृते किम्पुनरेतावतः ? स खलु कदाचिद् व्यामोहविवशं विदधाति तदधमर्णीभूतस्य धीरस्यापि चित्तम्, व्यामूढमनाश्च कदाचिज् ज्ञाताज्ञातविवेकविहीनो मतिगतिहीनोऽपि भवति, तत्कोऽस्य दोषो वर्णिनो यदेतावता कथनेनाऽप्ययं धरापुरन्दरं रघुं ज्ञातुं न शक्नोति, अधीतचतुर्दशविद्योऽप्यविज्ञ इव पृच्छति, तदथ विशिष्य कथमनन्तरा नाऽन्योऽस्त्युत्पायः कश्चित् ( प्रकाशम् ) अहो ! ब्रह्मचारिन् ।

वाशिष्ठे सुतपोवने निजवपुर्देवप्रसूनार्चितं
गामेकामवितुं मृगाधिपतये दत्तं यदुत्पत्तये
तातेनाऽस्य विशालसैन्धवमहायज्ञे सुराधीशितु-
र्जेता योऽस्ति कथं न हा ! स भवता संस्मर्यते क्ष्मापतिः ॥१०४॥

---

कौत्स—( माँगने योग्य अधिक धन के कारण उद्विग्न चित्त वाला रघु का स्मरण करते हुए )

वनदेवी—( इसके बाद स्मरण कर अपने ही नाम को कहते हुए सम्भावना करते हुए ) ब्रह्मचारी ही समर्थ हो सकता है ।

कौत्स—( इसके बाद पहले कहे गए कारण से स्मरण करते हुए )

ऐसा कौन पवित्र नगर है ? जिसमें ऐसे राजा हैं, जो याचकों की याचना को सफल कर सकते हैं ।

नहीं तो ऐसे राजा से क्या लाभ ? ॥१०३॥

वनदेवी—( मन ही मन ) खेद है ?

भाग्यवान को कम भी धन अधिक हो जाता है ।

विवश होता है । धैर्यवान का भी चित्त मोह ग्रस्त हो जाता है ।

इस ब्रह्मचारी का क्या दोष है ? पृथ्वीपति रघु को नहीं जान सकते हैं । चौदहों विद्याओं को पढ़कर अनजान की तरह पूछते हो ।

कोई जोर से हे ! ब्रह्मचारी ।

वशिष्ठ के तपोवन में जिसके शरीर फूल से पूजित हैं । विशाल सैन्धव यज्ञ में धिष्ठित हैं । वे क्ष्मापति कौन हैं ? ॥१०४॥

विकलयति नितान्तं हन्त ? विश्रान्तभावः
शिथिलयति शरीरं चित्त आर्त्तिं तनोति
अहह ! किमिव जातः सोऽहमेतेन यस्माद्-
रघुमपि न नरेन्द्रं पारयामि स्म बोद्धुम् ॥१०५॥

घिङ्माम् ( इति मस्तके हस्तमारोपयति )

वनदेवी—शान्तम्, भद्र ! मा त्वं चतुर्दशविद्याविशेषज्ञं स्वं धिक्कुरु, नैष दोषो भवतः करालः किल कालो भवति, स किं न कर्तुं कल्पते, स एव भवादृशं विद्वत्पुरन्दरं पृथ्वीपुरन्दरं न वेदयतिस्म, याहि याहि, गुरुदेयदक्षिणाऽर्थं तमेव समाश्रय।

कौत्सः—देवि ! सर्वं सत्यम्, परमिदं विचारय यत्सुमेरुतोऽपि गुरुरस्ति मे गुरुदेयदीनारस्य भारः।

वनदेवी—अत्र कः सन्देहः ?

कौत्सः—तेनैतेन दुःखागारेणभारेण भारिणमेकाकिनं भगवन्तं भूतेशमपि कर्तुं लज्जे किम्पुना राजानं रघुम् ?

वनदेवी—भद्र ! समीचीनन्ते वचः, तथाऽपि मृद्वुक्तिन्तावन्मन्यस्व, रघुराजराजितान्तामयोध्यां प्रति प्रतिष्ठस्व, त्यजान्यं विचारम्, शुभस्य शीघ्रं कुरु, समयेऽहम्पुनः समुपस्थास्ये ( इत्यन्तर्दधाति )

कौत्सः—( अन्तर्द्धानं निर्वर्ण्य ) अहो ! अन्तर्हिता मे हिता, अथ तत्कथनमेवास्ति मेऽवलम्बः ( इत्युत्थाय प्रस्थातुमुपक्रमते )।

---

सम्पूर्ण भाव विकल हो जाता है। शरीर शिथिल हो जाता है। चित्त दुखी हो रहा है। रघु राजा को नहीं जान सकता हूँ ॥१०५॥

धिक्कार है मुझको यह कह कर ( मस्तक पर हाथ रखकर )

वनदेवी—शान्त हो भद्र ! चौदह विद्याओं को पढ़कर मुझे धिक्कृत न करें। इसका दोष नहीं अभी कराल काल है।

जाओ-जाओ गुरुदक्षिणा के लिए उसी का आश्रय लो।

कौत्स—देवि सभी सत्य है, लेकिन यह विचार करें गुरुदक्षिणा का भार गुरु हैं।

वनदेवी—यहाँ क्या सन्देह है ?

दुख के भार से अकेला दुखी शंकर भी लज्जा को प्राप्त कर सकते हैं, राजा रघु को क्या ?

वनदेवी—भद्र ! अयोध्या जाओ अन्य विचार को छोड़ो। शुभ को शीघ्र ही करो। समय पर मैं फिर उपस्थित होऊँगा। यह कहकर लुप्त हो जाते हैं।

कौत्स ( अन्तर्ध्यान को ध्यान से देखकर ) हे ! उनका कथन ही हमारा सहारा है। यह कहकर चल देते हैं।

वनदेवः—( प्रविश्यपुरोभूय ) विप्रवर ! भवद्विधस्यातिथेर्बहुकृतं भवेदनुचितं वनवासिजनेन तत्क्षम्यताम् ।

कौत्सः--नन्वार्यः ! दर्शनप्रसादमात्रेनैव हृदये निकामं कौतुकं जनयतः परम-परिचितोचिताचारमाचरंस्तत्रभवतः परिचयेच्छा मां लज्जयति ।

वनदेवः—अहमस्य वनस्याधिष्ठितृदेवोऽस्मि ।

कौत्सः—अपि मातुर्वनदेव्याः सोभाग्यभूत्रभवान् ? अहो !

अपरिचितजनोचित प्रश्नेनावमानितः, ततः पितः । प्रथमन्तावद्भवद्विधस्या-तिथिसत्कारकर्तुं बंहुकृतन्मयाऽनुचितं प्रवासिर्जनेन तत्क्षम्योताम् ( इति प्रणमति )

वनदेवः--जीवः वत्स ! चिरंजीव ।

कौत्सः--तात ! अत्राहमागमनसमयादिदानी गमनसमयपर्यन्तं निरन्तरं भवदीयाऽनुकम्पापरम्परया परं कृतार्थीभवन्नस्मि, ततः कां सेवां कुर्यामिति पृच्छन्पुनर्लज्जे ।

वनदेवः—ननु भूसुर एव खलु भुवि सेवापात्रीभवितुं शक्नोति; तात ! मा मा विलम्ब्यतां प्रतिष्ठस्व कल्याणाय, परं प्रथमं क्षणं नेत्रे निमील्य चिन्तय स्वेष्टदेवम्, ततः प्रयास्यसि ।

कौत्सः—( तथा करोति )

वनदेवः—( लुप्यति, जनविका पतत्युतिष्ठति च )

---

वनदेव—( प्रवेश कर ) हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वनवासी जन क्षमा करें ।

कौत्स—दर्शन रूपी कृपा से ही मेरे हृदय में अत्यन्तानन्द हो रहा है । आपके परिचय की इच्छा मुझे लज्जित कर रही है ।

वनदेव--( प्रवेश कर ) हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! वनवासी जन क्षमा करें ।

कौत्स—दर्शन रूपी कृपा से ही मेरे हृदय में अत्यन्तानन्द हो रहा है । आपके परिचय की इच्छा मुझे लज्जित कर रही है ।

वनदेव—जीव पुत्र ! अधिक दिनों तक जीओ ।

कौत्स—पुत्र ! मैं यहाँ आने के समय से जाने के समय तक लगातार आप की अनुकम्पा की परम्परा से अत्यन्त कृतार्थ हो रहा हूँ ।

वनदेव—ब्राह्मण ही इस पृथ्वी पर सेवा के पात्र हो सकते हैं ।

पुत्र ! देर मत करो, नेत्रों को बन्द कर सोचो, तब जाओगे ।

कौत्स--वैसा ही करता है ।

वनदेव--लुप्त हो जाते हैं । परदा गिरता और उठता है ।

कौत्स—कुछ क्षण बाद नेत्रों को ठीक से बन्द कर अपनी अयोध्या के सरयू के तट पर देखकर, चकित होकर चारो दिशाओं को देखकर पुत्र ! वनदेवता कहाँ चले गये ।

कौत्सः—( क्षणाऽनन्तरं नेत्रे समुन्मील्य स्वमयोध्यायां सरयूतीरे स्थितं विलोक्य चकितश्चतुर्दिक्षु निरीक्ष्य ) ननु तातो वनदेवः क्वगतः ?

क्व पुनरहमस्मि ? केयं नदी ? किमिदं नगरम् ? ( कञ्चित्पथिकं दृष्ट्वा तं प्रति ) ननु पथिक भ्रातः ! केयं तरिङ्गिणी ? किम्पुनरिदं नगरम् ?

पथिकः—नदीयं सरयूर्नगरीयमयोध्या ।

कौत्सः—( परितो विलोक्य ) अहो ! अयोध्येयम्, कथमिदानीमेवायोध्यामागतोऽस्मि ? भगवत्ययोध्ये ! प्रणमाम्यत्रभवतीम् ( इति प्रणम्य ) अहो ! दैवतः खलु महीयान्प्रभावो भवति, येनाऽहं क्षणादयोध्यां प्रापितोऽस्मि ( क्षणं विचिन्त्य ) अथेदानीं प्रथमं भगवत्याः सरय्वास्तटे भ्रमन्नात्मानं पावयामि रमयामि च, तत्पश्चान्नगरं प्रवेक्ष्यामि ( इति गच्छति, जवनिका पतति ) ।

इति प्रथमं दृश्यम् ।

( स्थानं पूर्वोक्तमेव वनम्, तत्र पुनः प्रविशतः पूर्वोक्तावेव वनदेवदम्पती )

वनदेवः—( स्त्रियं प्रति ) प्रिये ! सम्यक् सम्मानितः सम्मोदितः प्रस्थापितश्चापूर्वोऽतिथिरसौ वर्णीति वहुकृतं कार्यन्त्वर्था, साधु जानासि दुःखिनं सुखाकर्तुम् ।

वनदेवी—भवतु, परन्तु परमचिन्तनीया परिस्थितिरस्ति ।

वनदेवः—तत्किम् ?

वनदेवी—तदिदं यत्—यदि साकेतशिरोमणिर्न्न दद्यात्तत्प्रार्थितमर्थं तस्मै तर्दो कृतमप्यकृतं भवेत् ।

---

कहाँ पुनः मैं हूँ ? कौन यह नदीं है ? यह कौन नगर है ? किसी राही को देखकर उसके प्रति पथिक भाई ! कौन यह तरङ्गिणी है । फिर यह कौन नगर है ?

राही—यह सरयू अयोध्या नगरी है

कौत्स—( चारों ओर देखकर ) अहो ! यह अयोध्या है । मैं क्यों अयोध्या आया हूँ ।

भगवती अयोध्ये ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ( इस प्रकार प्रणाम कर ) अहो ! महान प्रभाव है जिसके द्वारा मैं अयोध्या पहुँच गया हूँ । ( क्षणभर सोचकर ) इसके बाद इस समय भगवती सरयू के तट पर घूमते हुए अपने को पवित्र करता हूँ और आनन्द करता हूँ । बाद में गाँव प्रवेश करूँगा । यह कहकर चला जाता है । परदागिरता है ।

वनदेव—इसके बाद क्या ?

वनदेवी—यदि साकेत शिरोमणि नहीं देंगे तो कोई नहीं देंगे यदि देंगे तो कृतकृत्य हो जाऊँगा ।

प्रथम दृश्य समाप्त हो जाता है ।

वनदेवी--एवम् ।

वनदेवः--कथं न दद्यात्साकेतनाथः ?

वनदेवी--श्रूयते हि सोऽधुना विश्वजिति महामन्यौ विश्राणितवित्तः क्षीणकोशो जातोऽस्ति ।

वनदेवः--आः किं वदसि ? सम्प्रति विश्वविजयादारभ्य विश्वजिद्यज्ञपर्यन्तं सम्पादितविश्वविख्यातकृत्यस्य प्रोत्साहितमनसो राज्ञो रघोः पुरः समुपतिष्ठमानो न कश्चिद् याचको विफलीभवितुमर्हतीति मया पथि परस्परमालपतां पथिकानां मुखादाकर्णितम्, तदधुना स राजर्षि राजान्तरादपि वित्तं समानीय कौत्सवर्णिने समर्पयितुं शक्नुयात् ।

वनदेवी--एवन्तर्हि सत्यं बहुकृतं कार्यं मया ।

वनदेवः--अत्र कः सन्देहः ? प्रिये ! इदानीमपि तस्य कोशलतिलकस्य राजकोष एवाऽस्ति क्षीणो न मनस्कोषः, पितुरश्वमेधे वीरताविस्मापितदेवेन्द्रस्य तस्य नरेन्द्रस्य त्रिभुवनधनराशिः स्वकीय एवाऽस्ति याचकानां कृते ।

वनदेवी--नाथ ! तद्दर्शनीया भवेदयोध्येदानीन्तनी ?

वनदेव--न दर्शनीयैवाऽपि तु दर्शनीयतमा, ते पथिकाः पथि समालपन्तस्तत एवागच्छन्त आसन् ।

वनदेवी--तत्तत्र साम्प्रतं गतायातानां सङ्घट्टः स्यात् ?

वनदेवः--अत्र कः सन्देहः ?

वनदेवी--तदावाभ्यां किमपराध्यते ?

---

वनदेवी--सुनी हूँ कि विश्वजिति नामक यज्ञ में धन का सारा खजाना दान किया है ।

वनदेव--क्या कहते हो ?

वनदेवी--बहुत किया मैंने

वनदेव--यहाँ क्या सन्देह है इस समय कौशलतिलक का राजकोष ही है । याचकों के लिए यह धन का खजाना है ।

वनदेवी--स्वामी ! इस समय अयोध्या देखने योग्य है ।

वनदेव--देखने योग्य वे पथिक आपस में बात चीत करते जा रहे थे ।

वनदेव--यहाँ क्या सन्देह है ?

वनदेवी--हमदोनों क्या अपराध करते हैं ।

वनदेवः—नो किमपि, परं शोभनम् ।

विपिनेऽटाट्यमानाभ्यामावाभ्यां पद्मलोचने !
नगरञ्चाऽपि संसेव्यं किम्पुनस्तन्महोत्सवे ।।१०६।।

तदवश्यमेव तत्र गन्तव्यम्, नगरदर्शनं वर्णिवृत्तावलोकनं द्वयमेतत्सहैव सम्पत्स्यते ( एकः पन्थाः, द्वे पुनः कार्ये )

वनदेवी—विलुप्तविग्रहौ भूत्वाऽऽवां तत्र सर्वत्र प्रवेशे निर्गमे पुनरवारितद्वारौ भविष्याव इति ( एकः पन्थास्त्रीणि कार्याणि )

वनदेव—( साट्टाहासम् ) कान्ते ! एकान्ते विहरतां नगरम्पतीनां तानि तानि गतिभाषितचेष्टितानि विस्पष्टं विलोकयन्तौ विविधविनीदरसमास्वादयिष्याव इति कृतिचतुष्टयं किं नो भाषसे ?

वनदेवी—( नृत्यन्ती )

क्रीड़नं कलयिष्याव एकान्त इव तत्र तत्
सोदरः कोशलावासी वनवासस्य मन्यताम् ।। १०७ ।।
न कोऽपि प्रतिषेद्धा स्याद्राजकीयनृणामपि
स्वच्छन्दं गच्छतोस्तत्र स्वच्छन्दं रममाणयोः ।। १०८ ।।

इति कार्यपञ्चकं तत्रावां साधयिष्यावः ।

---

वनदेव—नहीं कुछ भी अच्छा नहीं

हे कमलनयने ! हमदोनों जगल में घूमते हैं । नगर सेवने योग्य है । तो अवश्य ही जाना चाहिए ।१०६। ( एक रास्ता दो कार्य )

वनदेवी—विलुप्त शरीर वाला होकर निर्गम मार्ग में प्रवेश करता हूँ । एक रास्ता तीन कार्य ।

वनदेव—( जोर की हँसी के साथ ) एकान्त में नगर को दम्पति उन-उन गतिभाषित चेष्टाओं से स्पष्ट रूप से देखते हुए अनेक प्रकार के आनन्दरस का आस्वादन करते हैं ।

वनदेवी—( नाचती हुई ) कोशलवासी वनवास को माने कोई रोकनेवाले नहीं हैं । स्वच्छन्द गमन करने वाले एवं रमण करने वाले हैं ।।१०७-१०८।।

इस प्रकार कायपञ्चक का साधन करें ।

वनदेवः—ननुप्रियतमे ! एतत्सर्वमानुषङ्गिकम्, मुख्यतया त्वाचार्यदेयधनस्य धन्धनेनान्धीभूतं व्रतीन्द्रं कौत्सं यदि तदर्थमावां रघोः सकाशे प्रहितवन्तौ स्वस्त्वत्तदर्थमावयोस्त्वत्र गमनमपि समुचितम् ।

वनदेवी—परमसमुचितम् सम्भाषणात्तोऽपि स तत्र गत्वा सन्तोषणीयः ।

वनदेवः—हं हं

समये सुवचोमात्रं गात्रं शीतलतां नयेत्
विनिन्दति सुधाधारामतिसारामपि प्रिये ! ।१०९।

वनदेवी—तदेकमेव कार्यं गणयितुं योग्यम् ।

वनदेवः—( चकिताकाशे कर्णौ नियोजयन् ) ननु प्राणवल्लभे । कुतश्चिदागच्छतो मधुव्रतव्रातस्य मरन्दामन्दपानप्रमत्तस्य मञ्जुगुञ्जनमिव कर्णपथे समायाति ।

वनदेवी—( अवधाय ) नहि नहि तदिदं मधुमक्षिकाजालं यद् ब्रह्मचारिप्रतिगमनानन्तरं वने विहृत्यमालतीकुञ्जे मन्दप्रसुप्ताभ्याम् आवाभ्याम् उपरिप्रसृतमाकन्दशाखानिवद्धमधुच्छत्रतः समुड्डीय भनभनायमानमाकर्ण्य प्रबुद्धाभ्यामत्र त्वरितपदा समागतम् ।

वनदेवः—क्व ( कर्णंदत्वा )

ननु प्रिये ! सत्यन्तदेवेदानामुड्डीयमानमेवास्ति(आकाशे दृष्टि बद्ध्वा) नहि प्रेयसि ! समवलोक्य, त एते विद्याधराप्सरो यक्षगन्धर्वकिन्नराः कतिपये समाबद्धमण्डलीका गगनगतयः परस्परं समालपयन्तः क्वचित्प्रस्थिताः सन्ति ।

---

वनदेव—हे प्रियतम ! आचार्य को दक्षिणा देने के लिए कौत्स यदि रघु के यहाँ माँगने जायँ तो उनकी याचना सफल होगी ।

वनदेवी—वे वहाँ जाकर सन्तोष को प्राप्त करेंगे । शरीर शीतलता को प्राप्त करें ।

शरीर को अमृतधारा का अनुभव होगा ।१०९।

वनदेवी—तब एक ही कार्य करने योग्य है ।

वनदेव—( चकित होकर आकाश में कानों को बन्द करके ) हे प्राणवल्लभ कहाँ से आये हो ? कहाँ से यह सुन्दर गुञ्जन की आवाज आ रही है ।

वनदेवी—नहि नहि यह मधुमक्खियों के समूह की भणभण की ध्वनि है ।

वनदेव—( कान लगाकर )

प्रिये ! ( आकाश में दृष्टि लगाकर ) नहिं प्रेयसि । ( ठीक से देखकर ) विद्याधर, अप्सर, यक्ष गन्धर्व और किन्नर एकत्रित होकर आकाश मार्ग से बातचीत करते हुए प्रस्थान कर रहे हैं ।

वनदेवी— ( अवलोक्य ) नाथ ! सैषा मण्डली प्रदेशेऽस्मिन्नन्तरिक्षतस्य स्थिता सती सम्प्रति समालपति ।

वनदेवः—कर्णौ नियोज्य ) किम्ब्रुवन्त्येते ? ( तेषामुपरिस्थितिकालपर्यन्तं श्रुत्वा ) श्रुतम्मया सुन्दरि ! त्वया न श्रुतम् ?

वनदेवी अन्यमनस्कतया ममस्फुटवर्णाऽभिव्यक्तिर्न्नं जाता ।

वनदेवः—श्रृणुः एते समालपन्ति यत् प्रथममयोध्यायां रघुकृतदिग्विजयचित्र-प्रदर्शनम्, ततस्तत्कृतविश्वजिद्चित्रप्रदर्शनं भविष्यति, गुरुदक्षिणार्थो कौत्सोऽपि तत्र प्रयात इति तेन साकं रघोर्वार्ताऽपि नभः स्थितैरस्माभिः साद्यन्तं श्रोष्यत इति ।

वनदेवी—तदेत अप्ययोध्यायात्रिण एव सन्ति, तत् विलक्षणांवसरोऽयमयोध्या-प्रस्थानस्य ।

वनदेवः हुं हुं ।

वनदेवी—तत्किं विलम्ब्यते नाथ ! आवामपि तथोड्डीय तत्र गच्छेव यथा क्षणा-त्तत्रोपतिष्ठावहे ।

वनदेवः—अवश्यमवश्यम्, उड्डीयस्वोड्डीयस्व ( इत्युभावुड्डीयेते ) ।

॥ इति द्वितीयं दृश्यम् ॥

---

वनदेवी—( देखकर ) यह वही मण्डलो है, जहाँ सुरक्षापूर्वक बातचीत करती हुई स्थित है ।

वनदेव—( कानों को लगाकर ) ये क्या बोलते हैं ? उस सबों की उपस्थिति समय तक आकर हे सुन्दरी ! तुम नहीं सुनो क्या ?

वनदेवी—अन्यमनस्कभाव से मेरे स्पष्टवर्ण की अभिव्यक्ति नहीं हुई ।

वनदेव—सुनें ये बातचीत करते हैं कि पहले अयोध्या में रघुद्वारा किये गये द्विग्विजय चित्र प्रदर्शन है, इसके बाद विश्वविजित चित्र प्रदर्शन होगा । गुरुदक्षिणार्थी कौत्स की बातचीत रघु के साथ होगी ।

वनदेवी—ये अयोध्या के यात्री ही है ।

अयोध्या प्रस्थान का यह विलक्षण अवसर है ।

वनदेवी—तो क्या विलम्ब है । हम दोनों उड़कर वहीं चले और क्षण भर ठहरें । वनदेव—अवश्य अवश्य यह कहकर दोनों उड़ते हैं ।

यह दूसरा दृश्य समाप्त हुआ ।

स्थानमयोध्यायां सरयूतीरम्, तत्र विद्याधरद्वन्द्वं प्रविशति )

विद्याधरः स्त्रीं प्रति प्रिये! अधिककौशलं तन्न दृष्टं यदस्मत् स्वर्गीयमिव न प्रतिभाति।

विद्याधरी—साकेतपुरीयं निजामरावतीव रमयति, यतः—

पीयूषाप्रवहाऽऽपगाऽत्र सरयूः सङ्क्रन्दनः श्रीरघुः
शोभां तां खलु नान्दनीमुपहरत्यारामं एतद्गतः
पृथ्वीपस्य सभा विलक्षणतमा सौधर्मधर्माऽस्त्यसौ
मन्त्री मन्त्रकृतौ कृती मतिमतामुच्चैर्निजाचार्यवत् ।।१०।

वनदेवः—( प्रविश्य विद्याधरं प्रति ) नमस्ते स्वर्गीयदेव!

विद्याधरः—( निर्वर्ण्य ) भद्र! भूयो भद्रमस्तु, नन्वयोध्याधिपतेर्नाटकशास्त्रे चित्रशाले चावलोकितौ भवन्ताविति प्रतीयते यदावामिव युवामपि नगर-सुषमासन्दर्शन-कौतुकायैव समागतवन्तौ स्त इति।

वनदेवः—नगरसुषमैवैतादृशी वर्तते या त्रिदशालयाद् युवामपि समाकृष्यात्रा-नीतवती।

विद्याधरः—तद्भूयो भूयः पश्यतं पुरीसौन्दर्यम् ( इति कथयल्लुंप्यति )

वनदेवः—( स्त्रियं प्रति ) प्रिये! तस्मादेव वृन्दाद्विघटितमिदं विद्याधरद्वन्द्व-मासीत् यद् ब्रह्मचारिप्रस्थानानन्तरं निजवने व्योम्नि मिथः समालपपद् गच्छद् दृष्ट-मावाभ्याम्।

---

( अयोध्या के सरयू तट पर विद्याधर के जोड़े प्रवेश करते हैं )

विद्याधर स्त्री के प्रति प्रिये! अधिककौशल तो नहीं देखा जिससे स्वर्गीय की तरह सुशोभित होते हैं।

विद्याधरी—यह साकेतपुरी अमरावती की तरह लगती है।

सरयू के पवित्र जल के प्रवाह से भी रघू पूत है। वह शोभा दर्शनीय है। राजा की शोभा विलक्षण है।

वनदेव—( प्रवेशकर विद्याधर के प्रति ) नमस्कार है आप को स्वर्गीय देवता। विद्याधर—( ठीक से देखकर ) भद्र! फिर कल्याण हो, अयोध्या के स्वामी नाटकशाला एवं चित्रशाला को देखते हुए आप दोनों प्रतीत हो रहे हैं। हम दोनों इस नगर की शोभा देखने आये हैं। वनदेव—नगर शोभा तो ऐसी है कि स्वर्ग से आपको खींच लाई है।

वनदेव—( स्त्री के प्रति ) प्रिये! उससे ही समूह से अलग विद्याधर के जोड़े

वनदेवी—ननु नाथ ! स्वर्गतो देवा अत्यत्र समायाताः, न जाने ब्रह्मचारी क्व भ्रमन्भवेन्नगरे ।

वनदेवः—प्रिये ! मया तु क्षणेनैव नु स्वस्माद्वनादत्र प्रस्थापित इति जानास्येव ।

वनदेवी—भवेत्क्वचित्स सरय्वास्तट एव परं तथाऽप्यसौमयैव सप्रेरणं प्रस्थापित इति तत्सम्मेलनाय चेतश्चलं भवति ।

वनदेवः—

कदाऽपि नगरे वरे व्रज विलासव्याबरात्-
कदाऽपि नगरस्य सत्परिसरे सुखं सञ्चरेः
कदाऽप्युपवनेऽमनाङ्निखिटे सरय्वास्तटे
निकाममयि कामिनि ! भ्रम चलं मनो मा कुरु ।१११।

वनदेवी—सत्यम् पर प्राणपते ! अत्रगत्योपुरस्थितशतघ्नीशतनिः सरद्दिक्कुञ्जरकर्णकुहरव्यथाकरप्रलयकराऽद्भुतध्वनिमत्र पदं निदधत्या एवं समाकर्णयन्त्या वनैकान्तनिवासप्रियायास्ते प्रियाया मानसमत्रनिवासं साहसं न संसहते ।

वनदेवः—( विहस्य )

महिलाहृदयं पात्रं पैप्पलमथ चाऽपि दन्तिशिशुकर्णौ
अर्था एते सततं न स्पन्देरन्निदं महच्चित्रम् ।११२।

---

थे । ब्रह्मचारी के जाने के बाद अपने वन रूपी व्योम में आपस में वार्तालाप करते हुए जाते हैं ।

वनदेवी—स्वामी ! स्वर्ग से देवता अन्य जगद् जाते हैं । नहीं जानता हूं; ब्रह्मचारी कहाँ चला गया ।

वनदेव—प्रिये ! मेरे द्वारा इस वन से अन्यत्र प्रस्थान कराया गया ।

वनदेवी—सरयू तट पर सम्मेलन के लिए चित्त चञ्चल होता है ।

वनदेव—कभी भी नगर में जाओ ।

नगर के परिसर में सुख करो । फुलवाड़ी में सरयू के तट पर भ्रमण करें ।१११।

वनदेवी—हे प्राणपति सत्य है । यहाँ सामने तोप दिशा के हाथी के कर्णकुहर में कष्ट होता है । अद्भुत ध्वनि होता है । सुनते हूए वन के एकान्त निवास से प्रिया के मानस निवास का साहस नहीं है ।

वनदेव—( हँसकर )

यहाँ महान आश्चर्य है । महिला का हृदय पिप्पल की तरह होता है । 'दन्तिशिशुमर्ण में स्पन्दन होता है ।११२।

अस्तु तावत्, तवैतस्य स्थिरीभवनोपायोऽपि निरपायोऽस्ति ।

वनदेवी—ननु कोऽसौ ?

वनदेवः—त्वमेवं कुरु यत्—राजद्वारि शतघ्नीशतसञ्चारवेलातः प्रागेव मां दृढं परिरभ्य तथा भवेयंथा निजवने शाखिशाखासंश्लिष्टा नवा माधवीलता त्वया मया साकं सक्रीडं विचरता विलोकिता ।

वनदेवी—( सस्मितं पटलाऽञ्चलेन मुखमाच्छाद्य ) तेन कथं चेतसः स्थैर्यं सम्पद्येत् ?

वनदेवः—इत्थन्तत्सम्पद्येत यत्—तेनावयोरेकस्य जायमाने त्वमहं स्यामहं त्वं स्यामिति त्वमप्यहमिवाकम्पितहृदया भविष्यसि ।

वनदेवी—पुनः पटाञ्चलने मुखमाच्छादय सस्मिता भवति ।

नैपथ्य गीतम्—

धिगेतं याचनाभारं महानगरसन्निभाकारम्
न शक्नोम्येनमुद्वोढुं दुराशीविषविषासारम् ।
प्रभो ! देयो न कस्मैचित्परस्मै सोऽयमेतादृक्
त्रिभुवनाऽधीश ! भुवनेऽस्मिन्निदं याचे विधातारम् ।धि०।

इति कतिधा गायति ।

वनदेव :- ( ध्वनिं परिचिन्वन् ) अहो !

स ध्वनिस्तत्ततश्चिन्तासन्ततिव्यञ्जनं तथा
तदेवाऽशान्तिजनकं वचोनिचयबन्धनम् ।११३।

---

हाँ उसके भवन के उपाय भी निरूपाय हैं ।

वनदेवी - कौन्स

वनदेवः आप ऐसा करें कि राजदरवार पर तोप के सञ्चार समय से पहले ही मुझे आलिङ्गन कर उस प्रकार हो जैसे अपने वन मे डाली से माधवी लता अलंकृत है ।

वनदेवी—( मन्दमुस्कान के साथ वस्त्र के छोर से मुख ढँक कर ) ।

वनदेव—उससे हम दोनों में एक तुम हो तुम कम्पित हृदय वाला होओगे ।

वनदेवी—वस्त्र के छोर से मुख ढँककर कुछ मन्द मुस्कान के साथ । नेपथ्य में गीत गाया जाता है । इस याचना भार को धिक्कार हैं । हे प्रभो आप दें कुछ तीनों भुवनों के स्वामी ! इस पृथ्वी पर विधाता से माँगे ।

यह कई बार गाता है । वनदेव ! ( ध्वनि पर ध्यान देते हुए ) अहो ! यह शान्ति दायक ध्वनि कहाँ से आती है । वाणी के समूह को बांधने वाली है ॥११३॥

वनदेवी—अत्र कः सन्देहः ?

कौत्सः—( अग्रे गायति )

इदानीं विश्ववन्द्यं तं विभुं विश्वेशमिव वन्दे
चतुर्वंशकोटिर्मानं तं स्वदेयं भूरिदीनारम् ।धि०।

( इति बहुवारं गायति )

वनदेवी—ननु नाथ ! चिरायुः खल्वयं कौत्सो यन्नाममात्रे प्रसङ्गतः प्राप्ते प्राप्त एव ।

वनदेवः—( एवमेतत् )

कौत्सः—( अग्रे गायति )

चतुर्दश मे हिता विद्या चतुर्दशकोटिकैर्निष्कैः
पलायन्ते समं मत्तोऽद्य मन्ये धिङ्ममाचारम् ।धि०
हरे ! धन्याऽस्ति ते माया क्वचिद्द्योतः क्वचिच्छाया
सदा शतधा नमाम्येनां त्वदीयां काममनुवारम् ।धि०

मातः सरयु ! सम्प्राप्तस्तेऽयं चरणसेवकः
प्रसीद मेऽतिदीनाय त्वामहं शरणं व्रजे ।११४।

---

वनदेवी—यहां क्या सन्देह है ?

कौत्स—आगे गाता है ।

इस समय विश्व के वन्द्य शिव को नमस्कार है । चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रा देनी है ।

यह बार-बार गाता है ।

वनदेवी—स्वामी ! चिरायु कौत्स जो नाम मात्र प्रसङ्ग से प्राप्त होने पर प्राप्त ही हैं ।

वनदेव—यह एसा ही है ।

कौत्स—( आगे गाता है ) चौदह करोड़ स्वर्णमुद्रा के उपयुक्त चौदह विद्या है । मेरे आचरण को धिक्कार है । धन्य है वह माया कहीं धूप कहीं छाया सौ बार प्रणाम है ।

माता सरयू चरण सेवक प्राप्त है । प्रसन्न होओ । हे दीन दयालु तुम्हारी शरण में मैं जाता हूँ ।११४।

( इति पठन्प्रविशति )

वनदेवी—( उपश्रित्य ) भद्र ! भूसुर ! समये समायातोऽसि ।

कौत्सः—( ससम्भ्रमम् ) अहो ! माता मे वनदेवी ? प्राप्तिमात्रेण दिव्यदर्शनं मातः ! ( इति प्रणमति )

वनदेवी—चिरञ्जीव !

कौत्सः—देवि ! कथमत्राऽपि पिपासवे मुञ्च्य सुधावृष्टिः?

वनदेवी—तथाऽस्तु, भद्र भवत्प्रसङ्गेन ममाप्योध्यादर्शनोत्कन्निष्ठा समजनि ।

कौत्सः—अपारः खलु तत्रभवत्याः कृपाकूपारः, तत्कथय मातः । कीदृशं मेऽत्रत्याशा ?

वनदेवी—अत्यनुकूला,राज्ञोऽधुनोत्साहनहीरन्हः प्रतिक्षणं कल्पवृक्षेण सह संस्पर्द्धते, शुभाऽवसरोऽयं भवतो भूपेन सह सम्मेलनस्त्वोदिकथनमिदानीमास्ताम्, सर्वं सम्पत्स्यतः एव, वत्स । नितान्तं श्रान्तोऽसि, विश्रम्यतान्तावत् ( इत्यासनन्दत्वा ) अत्रोपविश्य मार्गश्रममपनोदय विनोदयतावदात्मानम् ( इत्यासनोपरि समुपवेश्य कन्द-मूल-पुष्प-फल-जलान्यग्रे निधाय । इयमागताऽस्मि इति लुप्यति ।

---

( यह पढ़ते हुए प्रवेश करता हूँ ) ।

वनदेवी—( समीप जाकर ) भद्र ! ब्राह्मण समय पर आये हो ।

कौत्स—( व्याकुल होकर ) अहो ! मेरी माता वनदेवी क्या ? प्राप्ति मात्र से दिव्यदर्शन से माता ( यह प्रणाम करता हूँ )

वनदेवी—चिरञ्जीव ! कौत्स—देवि ! यहाँ भी अमृत की वर्षा पीने की इच्छा से ।

वनदेवी—वैसा ही हो ! भद्र ! आपके प्रसङ्ग से मेरे भी अयोध्या दर्शन की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है ।

कौत्स—आपकी कृपा है । कहें माता कैसी मेरी यहाँ आशा ?

वनदेवी—अत्यन्त अनुकूल हैं । राजा रघु के उत्साह रूपी वृक्ष में प्रतिक्षण कल्पवृक्ष के साथ स्पर्धा करता है ।

यह शुभ अवसर है । आपके राजा के साथ सम्मेलन आदि का कथन समय है । सब ठीक है । पुत्र ! बिल्कुल थक गये हो । तब तक विश्राम करें । इस प्रकार आसन देकर, यहाँ बैठकर मार्गश्रम को दूर करें । इस प्रकार आसन देकर, यहाँ बैठकर कन्द-मूल-फल-फूल जल को आगे लेकर यह मैं आई कहकर लुप्त हो जाती है ।

कौत्सः—हन्त गतैव ममाभिनयसूत्रधारिका क्लेशकुलाप हारिका, अस्तु, पुनरागमिष्यत्येव सा मे सुहिता तावद् भगवती सरयू मातरं संस्त्युपर्यात्मानं पुनामीति में परमो लाभः ( हस्तौ पादौ प्रक्षाल्य, फलं पुष्पञ्च सरय्वे निवेद्य तां स्तौति—

वन्दे सरयूं सरितां साराम्
खेलन्तीं खलु नगपतिप्राङ्गणमध्ये सततमुदाराम्
गङ्गादिकभगिनीभिर्देशे कृतप्रसाराम् । वन्दे०

सगुच्छलन्तीं क्वचिदपि लुक्कायित-प्रचाराम्
गण्डशैलमयघनतमविपिने क्वचित् वक्राकाराम् । वन्दे०
रघुनृपवंशसुकीर्त्तिकामिनीसुललितहाराकाराम्
अवधपुरीजनताभाग्योच्चयसञ्जितसम्पत्साराम् ।वन्दे०

पत्नीसहितवशिष्ठमोदमयशुक्तिमौक्तिकाकाराम्
दुरितराजसेनाशतसंक्षयसुन्दरखड्गसुधाधाराम् । वन्दे०

( इति सा साऽष्टाङ्गं प्रणमति ) ततः प्रकटितप्रफुल्लकमलयुतकरकरम्बित-जलनिःसृतपूर्वकाया—

सरयू—कौत्सं प्रति दक्षिणहस्तमुत्थाय )

---

कौत्स—खेद है ! मेरे अभिनय सूत्रधारिका क्लेश समूह को हरण करने वाली है ! हाँ फिर आऊँगा भगवती सरयू माता को प्रणाम हाथ और पैर धोकर फल और फूल लेकर स्तुति करता है।

सरयू माता को प्रणाम है। हिमालय के मध्य में खेलती हुई कहीं-वही उछलती हुई सरिता को प्रणाम है। गङ्गादिक की भगिनी को प्रणाम है ॥

कहीं-कहीं वक्राकार गण्डशैल को प्रणाम है। रघुराजा के वंश की कीर्ति रूपी कामिनी के सुललित हाराकार को प्रणाम है।

अवधपुरी की जनता के भाग्य के समूह से सञ्चित सामतिसार को प्रणाम है। पत्नी सहित वशिष्ठ के आनन्दमय शुक्ति एवं मोती के आकार को प्रणाम है।

( इस प्रकार वह साष्टाङ्ग प्रणाम करता है ) इसके बाद खिले हुए कमलं से युक्त जल से निकले हुए पूर्व शरीर वाले।

सरयू—( कौत्स के प्रति दायाँ हाथ उठाकर )

वत्स वर्णिन् समागत्य मा शोचीरत्र गृह्यताम्
इदं प्रफुल्लकमलमम्लानन्ते समर्प्यते ।।११५।।
यज्ञचित्रस्य वेलायां व्रजित्वा नृपसन्निधौ
उपदीकृत्य राजीवमेनच्छ्रेयः समेष्यसि ।।११६।।

इति कौत्सकरे कमलं प्रक्षिप्यान्तर्दधाति ।

कौत्स—हस्ते समागतं पद्मं निर्वर्ण्यं हृदये संयोज्य सरयूं प्रणम्य तद्ध्याने लीनो भवति ।

वनदेवः—( प्रविश्य समीपे समेत्य निर्वर्ण्य स्वगतम् । अहो ! साधिताऽष्टाङ्ग-योगस्यास्य प्रतीनः पद्माहनसौष्ठवम् अहो !

अस्य ध्यानधुरीणता, भवतु अथास्य प्रबोधनमेवोचितम् ( उच्चैः स्वरेण ) साधु वर्णिन्! साधु !

कौत्सः—( ध्यानमुक्तो भवति )

वनदेवः—कथय कौशलम् ? नन्विदन्ते करकमलं कमलाऽलङ्कृतं पश्यामि ?

कौत्सः—आ तातो वनदेवः ? एहि भगवन् । देहि मे दिव्यं दर्शनम् नेदमस्ति कमलम्, इदमस्ति भगवत्या सरयूदेव्याः प्रसादवैभवम् ( इति कथयन्नुत्थाय प्रणमति )

वनदेवः—शुभं भूयात् ।

---

पुत्र ! ब्रह्मचारी यहाँ आकर मत सोचो । यह खिला हुआ कमल समर्पित करता है ।।११५।।

यज्ञचित्र के समय मेंजाकर राजा केसमीप कमल की शोभा को पाओगे ।।११६।।

( यह कौत्स ले हाथ में कमल को फेंककर लुप्त हो जाती है )

कौत्स-—हाथ में आये कमल को ठीक से देखकर हृदय पर रखकर सरयू को प्रणाम कर उसके ध्यान में लीन हो जाता है । )

वनदेव—( प्रवेशकर समीप में ठीक से देखकर मन ही मन ) अहो ! अष्टाङ्ग योग के तपस्वी के कमलासन की सुन्दरता है । आश्चर्य है ।

इसके ध्यान की धुरीणता, हो इसके वाद जगाना ही उचित है (जोर से ) ब्रह्मचारी ! वाह !

कौत्स—( ध्यान तोड़कर )

वनदेव—कहें क्या कुशल है ? कर कमल को अलंकृत देखता है ।

कौत्स—पिता वनदेव ! आएँ भगवान ! मुझे दिव्य दर्शन दे, यह कमल नहीं है । यह भगवती सरयू देवी का कृपा वैभव है । ( यह कहते हुए उठकर प्रणाम करता है )

वनदेव—कल्याण हो ।

कौत्सः—तात् ! कीदृशी राजभवनस्य वार्ता ?

वनदेवः—सौम्या, अवसरे समायातोऽसि ।

वनदेवी—( शृण्वती प्रविश्य ) शुभोऽवसरोऽयं वर्णिवरागमनस्य ।

वनदेवः—

सर्वस्यैवाऽस्ति कार्यस्य रसोऽवसर एव हि
गते त्ववसरे तद्धि वैरस्यमनुविन्दति ।।११७।।

वनदेवीः—परं वत्स ! तावत्स्वस्थो भव, समये राजधानी प्रवेक्ष्यते राज्ञो दिग्विजय चित्र प्रदर्शनसूचकतूर्यरवाऽनुरणनं राजसद्मनि, तद्विप्र ! प्रयच्छाज्ञां तत्र गमनाय ।

वनदेवी—तावत्तिष्ठ वत्स ! विश्रामसुखमनुभवन् ।

कौत्सः—मातः ! तातानुग्रहेण । क्षणमात्रादेव वनादयोध्यां प्राप्तोऽस्मि, तदविश्रान्त एवाऽस्मि ।

वनदेवः—तथाऽपि तावदविश्राम्यतु भवान्यावदहं पुनर्मिलामि ।

कौत्सः—तात ! तावदत्रैकाकी स्थित्वाऽहं मक्षिकां मारयन्कि करिष्यामि, तत्तातो नगरसुषमादर्शनकुतूहलिनं मां पार्श्ववर्तिनं विधातुमर्हति ।

वनदेवः—का क्षतिः ? प्रस्थीयताम् मनोरञ्जनमपि भविष्यत्येतावता पुरैकदा कस्मिंश्चिदवसरेऽत्र समागतवानहमत्रत्यं सकलविकलं परिचिनोमि, तत्सर्वथा सर्वं दर्शयितुं शक्ष्यामि ।

वनदेवी—हुं हुं भूयो मनोरञ्जनं भविष्यति वत्सस्य अयन्तावत्तूर्यरवः प्रदर्शनोत्सवारम्भाद्घोरोद्धियं प्रागेव भवतीतीदानीं नगरशोभादर्शनस्यास्ति समयः ।

---

कौत्स—पिता ! राजभवन का क्या समाचार है ?

वनदेव—सौम्य ! तुम अवसर पर आए हो ।

वनदेवी—( सुनती हुई प्रवेश करती है ) यह ब्रह्मचारी के आने का शुभावसर है ।

वनदेवी—तब तक ठहरो वत्स ! विश्रामसुख का अनुभव करो ।

कौत्स—माता ! पिता की कृपा से क्षणमात्र में जङ्गल से अयोध्या को प्राप्त किया हूँ । थक गया हूँ ।

वनदेव—क्या हानि है ? ठहरें मनोरञ्जन भी होगा । अवसर पर मैं सब चीज दिखाऊँगा ।

वनदेवी—फिर मनोरञ्जन भी होगा । इस समय नगर की शोभा दर्शनीय है ।

वनदेवः—परं देवि अहमधुना वर्णिनासह ब्राह्मणवेषधारी भवामि, तत्वया सार्द्धं गमनमनुचितमिव विभावयामि, तत्वमलक्ष्यरूपेव गच्छ ।

वनदेवी—अतीव शोभनम् । इति लुप्यति ।

सर्वे निष्क्रान्ताः । जवनिका पातः

॥ चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः ॥

# अथ पञ्चमोऽङ्कः

( स्थानमयोध्यानगरमार्गः ) प्रागुक्तरूपो ब्रह्मचारिसहितः—

वनदेवः—( प्रविश्य ) इत इतो वतिन ! ( इति पन्थानं निर्दिशन् किञ्चिदग्रे गत्वा निर्दिश्य कौत्सं प्रति ) इयं पुरोवर्त्तिनी शाला दृश्यतां वत्स !

कौत्सः—( निर्वर्ण्य ) ननु तात ! केयं विशाला शाला ?

वनदेवः—इयमस्ति भोः ! शस्त्रास्त्रशाला । अहह—

एतस्या अत्र भागे वहुतरकृतिभिः कारुभिर्विप्रवर्णिन् !
निर्मीयन्ते मनोज्ञा अविकलमसयो विद्युताः स्पर्द्धमानाः ॥
भागेऽस्मिंस्तत्सुतैक्ष्ण्यं विदधतिकतिधा कारवोऽन्ये प्रवित्राः
कोषानस्मिन्विभागे कतिपयकृतिनो दृश्यतान्तत्तदीयान् ॥११८॥

अस्मिन्भागे मुने ! चारुचापो नाराचसंयुतः ।
विरच्यतेऽत्र चक्रञ्च परशुश्चाऽत्र रच्यते ॥११९॥

अस्त्राणामवशिष्टानां सर्वेषां निर्मिताः शुभा ।
विलोक्यतान्तत्र तत्र भागे शिल्पिशतैः कृता ॥१२०॥

---

वनदेव—मैं इस समय ब्रह्मचारी के साथ ब्राह्मण वेषधारी हूँ ! इसलिए तुम्हारे साथ जाना अनुचित है ।

वनदेवी—बहुत अच्छा ( यह कहकर लुप्त हो जाता है ।

सभी निकल जाते हैं ।

परदा गिरता है ।

चौथा अङ्क समाप्त होता है ।

●

( अयोध्या नगर का मार्ग ) पहले कहे गए रूप वाले ब्रह्मचारी

वनदेव—( प्रवेश कर इधर-उधर तपस्विन् ! ( यह रास्ते को दिखाते हुए कुछ आगे जाकर निर्देश देकर कौत्स के प्रति ) यह सामने वाले घर को देखें बेटा !

वनदेव—यह है हो । शस्त्र और अस्त्र का घर अहह इस भाग में अविकल विद्युतशस्त्र निर्मित होते हैं ।

इस भाग में सुन्दर धनुष निर्मित होते हैं ।

कौत्सः—( निर्वर्ण्य अहो ! महोत्तमं शस्त्रास्त्रशिल्पम, अथर्ववेदे यावन्त्यस्त्रशस्त्राणि यावन्तश्च तद्विधानविषयः समीय तास्तावतां कस्याप्यत्र त्रुटिर्नो लक्ष्यते ।

वनदेवः—विप्रवर ! दृश्यतामयस्ति पर्णमयो विश्वविद्यालयः सोऽयं विविध-वल्लि-शाखि-क्षुप-समन्वित-विचित्र-विपिन-चारु-चक्र-वालेन चतुर्दिक्षु चमत्कृतोऽस्ति ।

कौत्सः—( निर्वर्ण्यं ) तात ! नाम्नैव राजविद्यालयोऽयम्, सात्विकसम्पदात्वयमस्मद्वनविद्यालयमप्यतिशेते,

यद्दृष्टपूर्वा अपि वृक्ष-क्षुप-विरुधोऽस्मि विलोक्यन्ते ।

वनदेवः—( विहस्य )

न कोऽप्यत्राऽस्त्यसौ शाखी न काऽप्यत्राऽस्ति का लता ।
न वेद्मि शाखिनेयं न वा न वेद्मि खलु यां लताम् ॥१२१॥

कौत्सः—ननु तात ! वनदेवो भवान्वन-वल्लि-वृक्ष-क्षुपान्विशिष्य परिचिनोति ।

वनदेवः—( जानन्नपि कथाकौतुकाय ) अहह ! विश्वविद्यालयोऽयं रघुणा यदि राजभवनमिव निर्मीयेत तदा पुनः स्वर्णे सौरभं सम्पद्येत ।

---

कौत्स—( ठीक से देखकर ! अहो ! महान उत्तम शस्त्र एवं अस्त्र का अथर्ववेद में जब तक अन्य अस्त्र एवं शस्त्रों का विधान है । भण्डार है । समाधान करें । यहाँ त्रुटि लक्षित नहीं होगी ।

वनदेव—विप्रवर ! देखें पत्ते के घर वाले विश्वविद्यालय यहाँ अनेक प्रकार की लत्तियाँ, डाली, अनेक प्रकार के जङ्गल के सुन्दर चक्र से चारो दिशाएँ चमत्कृत हैं ।

कौत्स—( ठीक से देखकर ) पिता ! नाम से ही यह राज विश्वविद्यालय है । सात्त्विक सम्पत्ति से हमारा वन का विश्वविद्यालय है । जहाँ ऐसा कभी नहीं देखा था ।

यहाँ वृक्ष, लताएँ आदि दिखाई पड़ती हैं ।

वनदेव—( हँसकर ) यहाँ न कोई बड़ीं डाली है, न कोई बड़ी लता है । केवल एक लता को जानता हूँ ।१२१।

कौत्स—पिता ! वनदेव

वनदेव—( जानते हुए भी कहानी कुतुहलता के लिए ) अहह ! यह विश्वविद्यालय रघु के द्वारा यदि राजभवन की तरह निर्मित होता । तब पुनः सोने की शोभा का सम्पादन करता है ।

कौत्सः—( विहस्य ) तात !

नो वस्त्रे मलिने चकास्ति खलु सद्रूपन्तु रक्तादिकं
स्वच्छे तत्र तदेव भाति नयनद्वन्द्वाऽभिरामं बहु ।
तद्वत्सात्त्विकसाधने मुनिधने विद्याऽतिविद्योतते
नो विद्याध्ययनेऽति राजभवने नो वा धनं साधनम् ॥१२२॥

तत्पितरेतद्विद्यास्वर्णं एतदेव सौरभं यत्—सर्वतः प्रथमं नितान्तशान्ता स्थली भवेत्, तत्रत्यपर्णशालास्वध्ययनाध्यापने भवेतात्, छात्रा नित्यं गुरुसेवापरायणाः सब्रह्मचर्यं भिक्षावृत्तयः शिक्षां गृह्णीयुः ।

एवं गुरुसेवा-भिक्षा-शिक्षाभिर्ब्रह्मचर्याश्रमः शोभनः स्यादिति, अहह—

यत्राऽस्ति राजभवनं शुभपर्णशाला
राजासनं किल कुशासनमेव सौम्यम्
राजा गुरुः सततपूर्णसुशास्त्रकोषः
सा राजते शुभतमाश्रमराजधानी ॥१२३॥

राजन्ति राजपुरुषाः किल यत्र दक्षा
विद्यार्थिनः सततराजनिदेशरक्षाः
वेदोत्तमध्वनिसुदुन्दुभिनादपूर्णा
सा राजते शुभतमाश्रमराजधानी ॥१२४॥

---

कौत्स—हँसकर पिता !

स्वच्छ वस्त्र, रक्तादि रूप, सुन्दर नेत्रादि सुशोभित नहीं होते विद्या ही चमत्कार को प्राप्त करवाती है । विद्याध्ययन रूपी धन को छोड़कर कोई धन सुशोभित नहीं होते हैं ।१२२।

सबसे पहले बिल्कुल शान्त स्थली है । वहाँ जाकर पर्णशाला में जाकर अध्ययन एवं अध्यापन हो ।

छात्र नित्य गुरु कीं सेवा करें ब्रह्मचर्य रहकर शिक्षा ग्रहण करे ।

इस प्रकार गुरु की सेवा भिक्षा शिक्षाओं के द्वारा ब्रह्मचर्य आश्रम सुशोभित होते हैं ।

वह आश्रम अत्यन्त कल्याणकारी राजधानी है ।

यहाँ पर्णशाला ही राजभवन है । कुशासन ही राजा का आसन है । राजा गुरु हैं । शास्त्रागार ही राजकोष है ।१२३।

राजपुरुष जहाँ समर्थ हो, छात्र गुरु की आज्ञा की रक्षा में तत्पर है । वेदोत्तम-ध्वनि दुन्दुभि की ध्वनि है ।१२४।

वनदेवः—अहो महोत्तमं वचनम् ।

कौत्सः—इदम्पुनस्तत्र नासौरभमात्रं किन्तु परमदुर्गन्वो यदध्ययनाध्यापनकृते राजभवनं भवेत्, छात्रा राजसाचारपरायणाः शिक्षां गृह्णीयुरिति ।

वनदेवः—सर्वं सत्यम् ।

कौत्सः—( विलोक्य ) अये ! विभागा अप्यत्र बहवो विलोक्यन्ते ?

एकछात्रः—( तदिदं सर्वं शृण्वन्नेव विद्यालयविपिनचक्रवालान्निःसृत्य नमस्कृत्य निर्दिशन् ) अयमहमत्रभवन्तौ वेदयामि तावत् ( इति निर्दिशति )

ऋग्वेदस्य विभागोऽयं यजुषोऽयञ्च विस्तृतः
सामश्रुतेरयं भागोऽसावथर्वश्रुतेः श्रुतः ॥१२५॥

कौत्सः—अये ! अवान्तरविभागा इव प्रतीयन्ते, तत्किमत्रोपवेदानामप्यस्ति सन्निवेशः ?

छात्रः—आम्, श्रीमन् ! अयमस्त्यायुर्वेदस्य विभागः, अयं धनुर्वेदस्य, अयं गान्धर्ववेदस्य, अयमर्थशास्त्रस्य ।

कौत्सः—आः, त इमे सन्ति क्रमेण ऋग्यजुः सामाथर्वणामुपवेदाः, ननु भोः ! संहिता-शाखा-विभागाश्चाऽपि विद्यन्ते ?

---

वनदेव—आश्चर्य है ! बहुत उत्तम ध्वनि है ।

कौत्स—यहाँ दुर्गन्धी है । जहाँ ( अध्ययन एवं अध्यापन के लिए राजभवन है । छात्र सदाचार परायण होकर शिक्षा ग्रहण करते हैं । )

एक छात्र यह सब सुनता हुआ ही विद्यालय रूपी जंगल के चक्रवाल ( घेरे ) से निकलकर नमस्कार कर निर्देश देते हुए यह मैं आप दोनों को जानता हूँ । तब तक यह निर्देश देता हूँ ऋग्वेद का यह विभाग है । यह यजुर्वेद विस्तृत है । सामवेद का यह भाग है । अथर्ववेदों का यह वेद है ॥१२५॥

कौत्स—हे ! अवान्तर विभाग को तरह प्रतीत होता है तो क्या यहाँ वेदों का भी सन्निवेश है ।

छात्र—श्री मान् यह आयुर्वेद विभाग है । यह धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं धर्मशास्त्र विभाग है ।

कौत्स—ये क्रम से ऋग्, यजु, अथर्व एवं सामवेद हैं, संहिता, शाखा एवं विभाग हैं ।

छात्रः—आम्, भगवन् ! ( निर्दिशन् ) त इमे तद्विभागाः सन्ति ।

कौत्सः—वत्स ! अङ्गानमपि भवेयुर्तहि ?

छात्रः—( निर्दिशन् ) सोऽयं शिक्षायाः, अयं कल्पस्य, अयं व्याकरणस्य, अयं निरुक्तस्य, अयं ज्योतिषस्य, अयम्पुनश्छन्दोऽस्ति विभागः ।

कौत्सः—( छात्रं निर्वण्यं ) भविष्णुरयं छात्रः, ननु भोः ! कुशाः समिधः कुसुमादीनि पुनर्निर्त्यनियमसाधनानि कुतः समानीयन्ते ?

छात्रः—अस्ति समस्तं प्रचुरं विद्यालय वृत्तिवनेऽस्मिन्, प्रतिपत्सु पुनर्दूरादपि समाह्रियन्ते ।

कौत्सः—( निर्दिशन् ) अथ भोः ! के पुनरमी विभागाः ?

छात्रः—अयं मीमांसायाः, अयं न्यायस्य, अयं धर्मशास्त्रस्य, अयं पुराणस्य ।

कौत्सः—अये ! अध्यापका वहवः सन्त्येको वा ?

छात्रः—सहस्रशः शिष्यानेकोऽध्यापकः कथमध्यापयितुं पारयेत् ?

कौत्सः—( हसति )

छात्रः—भगवन् ! किमयुक्तमुक्तं सेवकेन ?

---

छात्र—हाँ भगवन् ! ( निर्देश देते हुए ) ये उसके विभाग हैं ।

कौत्स—पुत्र ! अङ्गों के भी होने चहिए तो क्या ?

छात्र—( निर्देश देते हुए ) यह शिक्षा का, यह कल्प यह व्याकरण, यह निरुक्त, यह छन्द और यह ज्योतिष का विभाग है ।

कौत्स—( छात्र का मुख ठीक से देखकर ) यह छात्र होनहार है । हे ! कुश, हवन की लकड़ी फूल आदि फिर से नित्य नियम एवं साधन कहाँ से लाए जाऐगें ।

छात्र—क्या है यह ? सम्पूर्ण प्रचुर विद्यालय वृत्ति इस जंगल में पुनः दूर से भी लाए जाएगें ।

कौत्स—( निर्देश देते हुए ) हे ! क्या ये विभाग है ?

छात्र—यह मीमांसा, यह न्याय, यह धर्मशास्त्र एवं यह पुराण का विभाग है ।

कौत्स—हे ! आध्यापक बहुत से हैं या एक हैं ?

छात्र—हजारों विद्यार्थियों को एक शिक्षक कैसे पढ़ा सकते हैं

कौत्स—हँसता है ।

छात्र—भगवन् ! सेवक ने क्या अनुपयुक्त बातें कहीं है ?

कौत्सः—( सस्मितम् ) नहि नहि वटो ! युक्तमेवोच्यते भवता ।

छात्रः—अथ विहसितमार्येण ?

कौत्सः—पटुरयं वटुः ।

वनदेवः—अत्र कः सन्देहः ?

कौत्सः—ननु बाल ! मदाश्रम एक एव कुलपतिः परः सहस्रांश्छात्रानध्यापयति ।

वनदेवः—अपि बुद्धं वत्स !

छात्रः—बुद्धम्, परमिमं बुभुत्से यदेकाकिना कुलपतिना परः सहस्राश्छात्राः कथमध्यापयन्त इति ।

कौत्सः—आचार्यवर्यः कतिपयानेव गणितांश्छात्रानध्यापयति ।

छात्रः—आगतो मदीयः पन्थाः कथन्तावदपरेऽधीयते, कथञ्चाचार्यः पर सहस्रांश्छात्रानध्यापयति ?

वनदेवः—वाक्पटुरयं वटुः ।

कौत्सः—( सस्मितम् ) ननु वटुकराज ! शृणु-मदाश्रमेच्छात्राणां बह्व्यः सन्ति बद्धाः श्रेणयः, श्रेणीबद्धेषु पुनश्छात्रेषूत्तरोत्तराः श्रेणयोऽधराऽधरा श्रेणीरध्यापयन्ति, तदित्थं साक्षात्परम्परया चाऽऽचार्यचरणा एव सर्वेषामध्यापकाः सम्पद्यन्ते, अध्यापकत्वं हि साक्षात्परम्परासाधारण्येन शास्त्रविषयकबोधजनकत्वम्, अवगतं भोः ?

छात्रः—अवगतम् ।

---

कौत्स—( मन्दमुस्कान के साथ ) नहि नहि ब्रह्मचारी । आपने ठीक ही कहा है ।

छात्र—इसके बाद आर्य हँसते हैं ।

कौत्स—ये ब्रह्मचारी निपुण हैं ।

वनदेव—यहाँ क्या सन्देह है ?

कौत्स—बच्चे ! मेरे आश्रम में एक कुलपति हैं, जो हजारों छात्रों को पढ़ाते हैं ।

वनदेव—हे पुत्र क्या आपने जाना ?

छात्र—जाना अकेले कुलपति कैसे हजारों छात्रों को पढ़ा सकते हैं ।

वनदेव—ये ब्रह्मचारी बोलने में चतुर हैं ।

कौत्स—( मन्द मुस्कान के साथ ) मेरे यहाँ छात्रों की बहुलता है । अध्यापन परम्परा है ।

वनदेवः—एषा खलूच्चतमा प्रणाली यदध्यनाध्यापने सदाचार ग्रहणग्राहणे च सहैव शिक्षन्ते शिष्याः ।

कौत्सः—अनेन खलु गुणशेवधिना विद्याविधिना विद्यार्थिनो विज्ञाताऽध्यापनप्रकारा एव गुरुकुलान्निःसरन्ति ।

छात्रः—महाविद्यालयेऽपि प्रायः स एवाऽस्ति पठनपाठनप्रकारः ।

वनदेवः—ननु भोः ! कथमिदं सङ्गतम् ? आचार्या भूयांसो रीतिः पुनः सेवेति ।

कौत्सः - अध्यापका वारमेकं निजनिबद्धां श्रेणीमध्यापयन्तो भवेयुः, परं तदनन्तरं पुनर्नीचैः श्रेणयःक्रमादुच्चैःश्रेणीतोऽध्ययनं कुर्वन्त्यो भवेयुः, तत्तच्छास्त्राध्यापकास्तु भिन्ना एव, इत्यर्थं माणवकः प्रायः पदेन सूचयति ।

छात्रः—हुं एवमेव ।

कौत्सः—किं भोः ! शैक्षोऽसि ?

छात्रः – शैक्षश्रेणीमतिक्रम्य तदुपरिश्रेण्यां प्रविष्टोऽस्मि ।

कौत्सः—कति यूयं सब्रह्मचारिणः स्थ ?

छात्रः—अष्टोत्तरशतम् ।

वनदेवः—किं भोः ! समावर्त्तनसमये समागते त्वमेष इव गुरवे दक्षिणादानार्थं कृतप्रतिज्ञो भविष्यसि ?

छात्रः अत्रैतत्कार्यार्थं स्वयमेव सम्राड्रघुः प्रतिवत्सरं समावर्त्तनकर्मणि यज्ञ-

---

वनदेव—यह निश्चय ही उच्चतम प्रणाली है । जो अध्ययन एवं अध्यापन की परम्परा से एवं सदाचार ग्रहण से शिष्य सीखते हैं ।

कौत्स—इसके द्वारा निश्चय ही

गुण एवं विद्या की विधि से विद्यार्थी अध्यापन की परम्परा से ही गुरुकुल से निकलते हैं ।

छात्र—महाविद्यालय में भी अध्ययन-अध्यापन का भी यही प्रकार है ।

वनदेव—हे ! यह कैसे उचित है ? आचार्य अच्छी रीति का पालन करते हैं ।

कौत्स—अध्यापक एक बार अपने बँधे हुए श्रेणी का अध्यापन करते हैं । शास्त्रों के अध्यापक भिन्न-भिन्न हैं ।

छात्र—१०८

वन—समावर्तन समय आने पर तुम्हारे वाणों की तरह गुरुदक्षिणा देने के लिए कृतप्रतिज्ञ होओगे ।

मण्डपं समेत्य विभूषयति, तत्किमेष आर्यस्तदर्थं कृतप्रतिज्ञोऽस्ति ?

वनदेवः—हन्त ! सैव प्रतिज्ञैनं विश्वम्भरां भ्रामयितुं प्रवृत्ताऽऽसीत्, मया पुनरयं सकलभूतलभ्रमणं निषिध्यात्रानीतोऽस्ति ।

छात्रः—एवमस्ति वृत्तान्तः ?

वनदेवः—तत्राऽयं कठिनपरिस्थितौ परिपतितोऽप्यस्ति ।

छात्रः—का नाम सा कठिना परिस्थितिः ।

वनदेवः—निजकृतप्रतिज्ञापालनाय गुरुदक्षिणाग्रहणार्थं कृतदुराग्रहमेनं तदस्पृहयालुराचार्योऽध्यापितचतुर्दशविद्यानां चतुर्दशकोटिदीनारदक्षिणार्पणमहादण्डेन ताड़ितवानित्यस्ति कठिना परिस्थितिः ।

छात्रः—सोऽयं तर्हि दुर्वृत्तान्तः ( कौत्सं प्रति ) ननु विद्याव्रतोभयस्नातक ! व्रतिराज ! कस्यास्तत्रभवतो योग्यसेवाया योग्योऽस्मि ?

वनदेवः—रघोः सकाशाद्गुरुदक्षिणाप्राप्तये साहाय्यमेवाऽस्य कृते महती सेवा, किं तां कर्त्तुं शक्नोषि ? वाक्चतुर इव क्रियाचतुरोऽपि प्रतिभासि ।

छात्रः—नैतादृशस्य याचकतिन्नकस्याऽपि कृतेऽस्मन्महाराजस्य सेवायामस्त्यावश्यकता कस्यापि साहाय्यदानस्य, विश्वं खलु विश्वं विजित्य राजर्षिर्विश्वजिद्यज्ञे

---

छात्र—स्वयं ही महाराज रघु समावर्तन कर्म में यज्ञमण्डप में आकर सुशोभित होते हैं। यह आर्य उसके लिए कृतप्रतिज्ञ हैं।

वनदेव—खेद है ! वही पृथ्वी की परिक्रमा के लिए प्रवृत्त है। मेरे द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी का भ्रमण किया जायेगा।

छात्र—क्या यही वृत्तान्त है ?

वनदेव—वहाँ यह कठिन परिस्थिति में है।

छात्र—उस कठिन परिस्थिति का क्या नाम है।

वनदेव—अपनी प्रतिज्ञा के पालन के लिए गुरुदक्षिणा के लिए दयालु आचार्य से चौदह विद्याओं को ग्रहण के बाद चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रा रूपी दण्ड से दण्डित किया है।

छात्र—वह यह तो दुर्वृत्तान्त ( कौत्स के प्रति ) विद्या एवं व्रत दोनों के स्नातक ! व्रतिराज मैं किसकी सेवा के योग्य हूँ।

वनदेव— रघु के समीप से गुरुदक्षिणा प्राप्ति के लिए सहायता को इसके लिए महान सेवा है। क्या उसको कर सकते हो। वाणी चतुर की तरह कार्य चतुर लगते हो।

छात्र—इस प्रकार के याचक, का भी हमारे महाराजा की सेवा में है। विश्व

समस्तं काञ्चनकोषं श्रोत्रियेभ्यो यज्ञदक्षिणां विश्राणितवान् स एनं पुनर्गुरुदक्षिणाऽर्थिनं कदाचिदपि निवर्त्तयेत् ?

वनदेवः—यदि निवर्त्तयेत् ?

छात्रः—र्तार्हि धरित्रीयं पातालं गच्छेत् ।

वनदेवः—परं सम्प्रति निष्काञ्चनः स कथं काञ्चनं दातुं प्रभवेत् ?

छात्रः—

पातालादपि दानवा हितग्रहाद्राजायमिष्टं धनं
संलातुं त्वरितो भवेत्स्वयमहो ! ह्येवम्विधाय ध्रुवम् ।

वनदेवः—नन्वीदृशोऽयं भूपतिः ?

छात्रः—

एतस्माद् वसुधेयमत्रभवती धन्यास्ति मन्ये महा-
नेतादृङ् नहि वर्त्तमान उत वा भूतोऽथ भावी नृपः ।१२४।

वनदेवः—( कौत्सं प्रति ) वत्स ? एवमहं पूर्वत एव विश्वसिमि, तद्धीरो भव ( छात्रं प्रति ) किं भोः !

छात्रः—आः कः सन्देहः ? स्वगृह अध्यध्यापयद्भ्यः श्रोत्रियेभ्योऽयं "सर्वविज्ञान-मयस्य वेदस्य तदीयाचरणस्य च रक्षका इमे त्रिभुवनस्यैव रक्षकाः" इति भावनया सकु-

---

को जीतकर राजर्षि विश्वजिति यज्ञ में सम्पूर्ण सोने का खजाना क्षत्रियों के लिए यज्ञ में दक्षिणा दिया । फिर गुरुदक्षिणार्थी को कभी नहीं लौटायेंगे ।

वनदेव—यदि लौटायेंगे तो

छात्र यह पृथ्वी पाताल चली जायगी ।

वनदेव—लेकिन इस समय निष्काञ्चन, कैसे काञ्चन दिया जा सकता है ।

छात्र—पाताल से भी धन लाकर दिया जायेगा ।

बनदेव—क्या ये इस प्रकार के राजा हैं ।

छात्र—यह पृथ्वी धन्य है माना । यह भूत या भावी राजा हैं ।१२४।

वनदेव—( कौत्स के प्रति ) पुत्र ! इस प्रकार मैं पहले से ही विश्वास करता हूँ । धैर्यवान होइए ( छात्र के प्रति क्या है !

छात्र—यहाँ क्या सन्देह है ? अपने घर पर अध्यापक पढ़ाते हुए क्षत्रियों से सर्वविज्ञानमय का वेद का उसके आचरण के रक्षक त्रिभुवन के रक्षक इस मानवता से

टुम्बनिर्वाहयोग्यं वित्तं वितरति महाराजः, स किं निजनिकेतने दूरादागतायैतादृशाय याचकाय मुष्टिकां बध्नीयात् ?

कौत्स—भद्र ! बहुमूल्येन्तेऽन्तेवासिनः समयं नाऽथ मोघीकर्त्तुं समीहांबिहे, गच्छ, गुरुर्वा वयस्यो वा त्वामपेक्षमाणो भवेत्, अथवा वत्स ! यद्यत्र ते मनो न रममाणं स्यात्तदा मया साकं व्रज, त्वामहं पाठयिष्यामि ।

वनदेवः—बाल ! अयं त्वां विविधविद्याभिः साकं गुरवे दक्षिणादानाग्रहग्रहविद्यामप्यमध्यापयिष्यति ।

छात्रः—( हसन्निःसरति )

वनदेवः—( किञ्चिदग्रे गत्वा निर्दिशन् ) भद्र ! इदं विद्योतते गोपुरम्, निरीक्ष्यतान्तत्रेमे राजमुद्राङ्कितशिरस्त्राणाः कटितटबद्धचर्ममेखलालम्बितसकोशच्छुरिकाः प्रहरिण इतस्ततो यातायातं विदधाति, इमे पश्य तत्र शतघ्नीनां श्रेणयः समुल्लसन्ति ।

कौत्सः—( निवर्ण्य ) युक्तमेतत्सार्वभौमस्य ।

वनदेवः—( अग्रे गत्वा ) वर्णिन् ! पश्य इदं मध्ये प्रोल्लसत्प्राङ्गणं सेन्दिरं देवमन्दिरवृन्दं वलयीकृतं ।

---

सुकुटुम्बी निर्वाह के योग्य धन वितरण करते हैं ।

महाराज अपने घर में दूर से ही उस प्रकार के याचक के लिए मुट्ठी बाँधते हैं ।

कौत्स—भद्र ! छात्रों का बहुमूल्य समय है । इसके बाद इसे सफल बनाना चाहता हूँ ।

जाओ गुरु हों या मित्र हों तुम्हें अपेक्षा होनी चाहिए ।
यदि तुम्हें मन नहीं लगे तो चलो मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा ।

वनदेव—बच्चे ! यह तुमको अनेक प्रकार की विद्याओं के साथ गुरू को दक्षिणादान ग्रहण विग्रह की विद्या का अध्यापन करायेगा ।

छात्र ( हँसते हुए निकलता है )

वनदेव—( कुछ आगे जाकर निर्देश देते हुए ) भद्र ! यह गोपुर परिलक्षित होता है । राजचिह्नित टोपी ( मुरेठा ) कमरबद्ध चर्म को करधनी से लम्बित छूरी का प्रहार करते हैं । इधर-उधर यातायात करते हैं । इसे देखो वहाँ तापों की श्रेणियाँ सुशोभित होती है ।

कौत्स—ठीक से देखकर सर्वभौमयुक्त है ।

वनदेव—( आगे जाकर ) ब्रह्मचारी ! देखो यह बीच में प्रोल्लास प्राङ्गण देवमन्दिरों के समूह घेरे हुए हैं ।

कौत्सः—ननु प्रवेष्टव्यमेतत् ।

वनदेवः--( तत्र गत्वा सह प्रविश्य ) पश्येदं प्राङ्गणेऽस्ति वैष्णवं मन्दिरम् ।

कौत्सः—( सहोपसृत्यप्रणम्य च स्तौति )

मीनाद्यर्च्चदशावतारविलसत्स्वङ्कैर्महद्भिर्महा-
मञ्चे स्वाऽऽरचितेऽत्र भव्यभुवने यत्स्वं करोष्यद्भुतम् ।
अप्रस्तावनमेव नाटकमहो ! स्वातन्त्र्यमेतत्तव
श्रीगोविन्द ! मुकुन्द । यादवपते । त्वां नौमि तं सन्नटम् ।१२५।

वनदेवः ( उपश्रित्य ) इदमस्ति मार्त्तण्डमन्दिरम् ।

यस्मिन्कुर्वति पूर्वशैलशिखराऽलङ्कारमभ्यर्थितं
संसारेण सरोवरेषु नलिनीवृन्दस्य सञ्जायते
गायन्मञ्जुमधुव्रतावलिरहो दृक्कोटिसम्मोहन-
स्तस्मै देववराय दिव्यनयनीभूताय भूयो नमः ।१२६।

( इति पूर्ववत्प्रणमति )

वनदेवः—( नत्वा ) इदम्पुनरस्ति भगवतो गणपतेर्मन्दिरम् ।

कौत्सः—करौ ( सम्पुटीकृत्य )

---

कौत्स--यह प्रवेश के योग्य है ।

वनदेव--( वहाँ जाकर साथ प्रवेशकर ) देखो यह प्राङ्गण में है । वैष्णव का मन्दिर है ।

कौत्स—( साथ जाकर एवं प्रणाम कर स्तुति करते हैं ) ।

हे श्रीगोविन्द ! मुकुन्द ! यादव के स्वामी ! तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ । मछली से लेकर दशावतार पूज्य है । इस भव्यभुवन में अद्भुत चीज पूजनीय है । तुम्हारा नाटक स्वतन्त्र है ।१२५।

वनदेव—समीप जाकर ) यह सूर्य का मन्दिर है ।

पहले शैलशिखर से अलङ्कार से अभ्यर्थित है । संसार सरोवरों में कमलिनी के समूह सुशोभित जाते हुए मधुव्रतों के समूह सम्मोहित हं । दिव्यनयनीभूतदेवश्रेष्ठ को नमस्कार है ।१२६।

( यह पहले की प्रणाम करता है )

वनदेवता--( नमस्कारकर ) यह भगवान् गणेश का मन्दिर है ।

कौत्स--( दोनों हाथों को जोड़कर )

त्वां नौम्यर्द्धसुधांशुशोभिविलसत्सिन्दूरविन्दुच्छटा-
दीव्यद्भालविभासिशुण्डमनिशं हेरम्ब । लम्बोदरम्
तावद्व्याकुलयन्ति विघ्ननिवहाः संसारिणस्तापदा
यावन्नो विनमन्ति चरणयोस्ते पङ्कजाभाभृतोः ।१२७।

( इति नौति )

वनदेवः—( निर्दिशन् ) इदमस्ति सेन्दिरं दुर्गामन्दिरम् ।

कौत्सः—

याऽभैत्सीद् भुवनत्रयप्रतापनान्दैत्यान्निशुम्भादिकान्
दिव्यास्त्रैरतिलीलयैव कदलीस्तम्भालिवद्भीषणाम्
तां दुर्गां सुरमानुषैः स्तुतिशतैः संस्तूयमानां भजे
भव्यां भूरिकृपाकुलार्द्रनयनां शान्तां सुशान्त्यै सदा ।१२८।

( इति नौति )

वनदेवः—( निर्दिशन् ) ? इम्पुनरस्ति भगवतो वैश्वानरस्य मन्दिरम् ।

कौत्सः—

वन्दे तं सुविशालविश्वसकलव्यापारनिर्वाहकं
देवेभ्यः प्रतियज्ञमाशु सुहुतं सम्प्रेषयन्तं सदा
दिव्यं दिव्यविभासुमण्डलवशाद्विद्योतयन्तं दिशः
प्रत्यट्टं प्रतिगोपुरं प्रतिपुरग्रामं द्युतेर्बर्द्धकम् ।।१२९।।

---

अर्द्धचांद की शोभा से सुशोभित सिन्दूर की बूंदा की शोभा से हे गणेश ! आप सूड़ सुशोभित है । तब नक विघ्नों के समूह सांसारिकों को व्याकुल करते हैं । आपके चरणकमलों में प्रणाम है । ( यह नमस्कार करता है ) ।१२७।

वनदेव—( निर्देश देते हुए ) यह दुर्गा का मन्दिर है ।

कौत्स—उस दुर्गादेवी को नमस्कार है, जो तीनों भुवनों में अपने प्रताप से शुम्भादि राक्षसों को मारी है ।

हजारों स्तुतियों से जिन्हें प्रसन्न किया जाता है । शान्ति के लिए कृपा से आकुल नयनी दुर्गा को प्रणाम ।१२८।

वनदेव—( निर्देश देते हुए ) यह फिर भगवान अग्नि का मन्दिर है ।

कौत्स—विश्व के सम्पूर्ण व्यापार के निर्वाह करनेवाले को नमस्कार है । देवताओं के लिए यज्ञाग्नि में हवन करते हो दिशाओं में मण्डलवशाद प्रकाश फैलता है ।१२९।

( इतिनमस्कृत्य ) अथ निखिलयज्ञाभिनयसूत्रधारे सविष्णुदेव पञ्चकेऽनन्तरायः प्रतिभटो महानट एव नमस्कर्तुमवशिष्टोऽस्ति ।

वनदेवः—( निर्दिशन् ) तदिदं दृश्यतान्तदीयं मन्दिरम् ।

कौत्सः—

यस्याञ्चर्यंजटाटवीतवपतद्दावाग्निखण्डायिते
नेत्राऽग्नौ त्रिजगज्जयी मनसिजः सद्यः पतङ्गायितः।
कण्ठे यस्य विराजतेऽतिविषयं विश्वव्यथाकृद्विषं
बोभूयेत पशोः पतिः करुणया कल्याणदायी स नः ॥१३०॥

( इति नमस्करोति )

वनदेवः—( समाकर्ण्य ) आः समुज्जृम्भतेतरामथ तृतीयश्चित्रपटप्रदर्शनप्रारम्भसूचको महादुन्दुभिनादः, तद्दीयतां वर्णिन्नाज्ञा तत्र गमनाय, दृश्यतां भ्राम्यतां यथेच्छं नगरसौन्दर्यम् ।

न किञ्चिदस्ति कर्त्तव्यं नो यदत्र कृतं भवेत्
प्रायः पुरं त्रिलोकीतः परो लोकोऽस्त्यदोऽद्भुतः ॥१३१॥

( इत्यभिधायाग्रे गत्वा कुत्रचिल्लुप्तः )

कौत्सः—( इतस्ततो बम्भ्रम्यमाणो यथागतं प्रत्यागच्छति )

इति प्रथमं दृश्यम्

---

( यह कहकर नमस्कार कर) सम्पूर्ण अभिनय सूत्रधार में वे विष्णुदेव पाँच विघ्नों, प्रतिभटों महानट ही नमस्कार के लिए विशिष्ट है ।

वनदेव—( निर्देश देते हुए ) तो यह देखें मन्दिर ।

कौत्स—वे शिव जी तुम्हारा कल्याण करें जिसकी जटा रूपी जंगल की दावाग्नि खण्डित हो गयी । नेत्राग्नि में कामदेव पतङ्ग की तरह जलकर भर गया । जिसके कण्ठ में विष विराजित है ।१३०।

( यह कहकर नमस्कार करता है )

वनदेव—( ठीक से सुनकर )

तृतीय चित्र के पट प्रदर्शन के सूचक महादुन्दुभि के नाद को सुनें । ब्रह्मचारी की आज्ञा से वहाँ जाने के लिए घूमते हुए नगर के सौन्दर्य को देखें ।

यहाँ जो कुछ करने योग्य है, वह कुछ नहीं है । प्रायः त्रिलोकी से पर अद्भुत लोक है । यह कहकर आगे जाकर कहीं लुप्त हो जाता है ।

कौत्स—( इधर-घूमते हुए आता है )



यह प्रथम दृश्य ।

( स्थानं सरय्वास्तीरम्, तत्र प्रविशति हंसस्थिता सरयूः )

सरयूः—शान्तम्..... कस्कोऽत्रभोः ?

वनदेवः—( प्रविश्य ) मातः ! एषः वनदेवोऽहं तत्रभवतीं प्रणमामि ।

वनदेवी—( प्रविश्य ) मातः ! वन्देतरामत्रभवतीम् ।

सरयूः—( आशीर्मुद्रया ) सौभाग्यभाजने भूयो भूयास्ताम् ।

वनदेवः—भगवति ? कया तव सेवया सफलीभवेव ?

सरयूः—अतिथिः किल सेवापात्रं भवति ।

वनदेवः—ननु श्रीमतीनां कृपादृष्टिरेवाऽस्मादृशां कृते सर्वस्वम् ।

सरसूः—वत्स ! वार्त्तां ब्रूहि ।

वनदेवः—तत्रभवतीनां पदपङ्करुहदर्शनतोन्या का भवेद् वार्त्ता ?

सरयूः—नन्वायोध्यिकोत्सवमभिप्रेत्य पृच्छामि ।

वनदेवः—-

**राज्ञा यद्विजये दिशां श्रमशतैः क्षात्रं सुकृत्यं कृतं**
**यच्चैनेन मखे महोच्चमतिना व्यापारितं मानसम्**
**तस्यान्तः सुखसम्पदं प्रतिदिनं तञ्जायतेऽत्रोत्सवो-**
**यस्यालोकनकौतुकाय जनता सोत्कण्ठमागच्छति ॥१३२॥**

---

यह सरयू का तट हैं । वहाँ प्रवेश करता है । सूर्यास्थित सरयू ।

सरयू—शान्त—..... कौन है यह है ।

वनदेव—( प्रवेश कर ) माता ! यह मैं वनदेव हूँ । वहाँ आपको नमस्कार करता हूँ ।

वनदेवी—( प्रवेशकर ) माता ! आपको यहाँ मैं प्रणाम करता हूँ ।

सरयू—भगवति किसकी सेवा से तुम सफलीभूत हो ।

सरयू—अतिथि निश्चय ही सेवा योग्य होते हैं ।

वनदेव—देवी की कृपादृष्टि ही हमारे लिए सबसे बड़ा धन है ।

सरयू—पूत्र ! वर माँगें ।

वनदेव—किसी उत्सव के बारे में पूछूँ ।

राजा जिसके विषय में दिशाओं के श्रमशतों में सुकृत क्षात्र हैं । यज्ञ से उच्च-मति वाले व्यापारित मानस वाले हैं । जिसके भीतर सुख सम्पत्ति का सञ्चार हुआ एवं नेत्रोत्सव हुआ जिसके देखने की उत्कण्ठा से जनता उत्सुक होकर आती है । श्री मवी का खास महोत्सव की तरह है ॥१३२॥

वस्तुतस्तु—
**श्रीमतीनां वास एव परमः स महोत्सवः**
**अयमत्युत्सवो देवि ! यस्य जाग्रद्विजृम्भितम् ॥१३३॥**

सरयूः—ननु मम भूपतेः प्रभावः परिचितः ?
**उपमानं नास्ति येन नृपोऽयमुपमीयताम्**
**तदयं राजते राजा स्व इवेति समुच्यताम् ॥१३४॥**

सरयूः—मत्तीरवासिसूर्यवंशीयेष्वद्यपर्यन्तं यावन्तोऽभूवन्भूमीधवास्तावतां मध्ये रघुरयं सर्वतोऽस्ति प्रशंसास्पदम्, अस्य राज्ञो गुणगरिम्णाऽऽनन्दपयोधौ निमग्नाऽहमयोध्यापार्श्वं परित्यक्तुं नेच्छामि ।

वनदेवः—पात्रे खल्वार्यायाः प्रसादः ।
**परं प्रसादं पुनरद्य मन्ये**
**स्वस्मिन्सुधन्ये ! नरनाथतोऽपि**
**यतौ भवत्याः शुभदर्शनेन**
**सौभाग्यभागस्म्यहमेव नासौ ॥१३५॥**

सरयूः—ॐ शान्ति भद्र ! श्वसनं पुनरायोध्यि कोऽसैवं विजानन्भवेः ?

वनदेवः—अप्रसादीकृतं जानन्नपि न जानामि ।

सरयूः—श्वो भविष्यति यज्ञचित्रप्रदर्शनम् ( इति कथयन्तो जलेऽन्तर्हिता भवति )

वनदेव-दम्पती—नमो नमो भगवत्यै सरयूदेव्यै ( इति प्रणम्य प्रयातौ ) इति सर्वे निष्क्रान्ताः । जवनिकापातः । पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।

---

हे देवि यह उत्सव जागृत है ।
सरयू—भूपति का प्रभाव परिचित है !
वनदेव—उपमान नहीं है । जिसके द्वारा यह उपमित है ।

सरयू—रघु प्रशंसा के पात्र हैं । इस राजा के गुण की गरिमा से इन्द्र समुद्र में निमग्न अयोध्या को नहीं छोड़ना चाहता है ।

वनदेव— आर्य की कृपा ।
आज मानता हूँ पर प्रसाद को वे मानव धन्य है ।
आपके शुभ दर्शन से सौभाग्य शालिता दर्शित हुई ॥१३५॥
सरयू—शान्ति भद्र !
वनदेव—अप्रसादीकृत जानते हुए भी नहीं जानता हूँ ।
सरयू—कल होगा यज्ञचित्र प्रदर्शन ( यह कहते हुए जल में डूब गये )
वनदेवी-दम्पति—सरयू देवी को नमस्कार है : प्रणाम कर प्रस्थान करते हैं । यह कहकर सभी निकल जाते हैं । परदा गिरता है ।

पञ्चमोऽङ्क समाप्त ।

# षष्ठोऽङ्कः

सशस्त्रराजभटपरिवेष्टितः पार्श्ववर्तिसुचामरग्राहकः पृष्ठस्थितच्छत्र ग्राहकः ससमान वयस्कविदूषकः ।—

रघुः—( प्रविश्य सिंहासने समुपविशति )

विदूषकः—( खञ्जीभूतो ऽम्बलगुड़ावलम्बेन चलन् ) उभयथा पीड़ितोऽस्मि ।

रघुः—तत्किम् ?

विदूषकः—एकतोऽयम् यत्—गुरुवशिष्ठमिश्रनिदेशेन विश्वजिन्महायज्ञे सङ्कलित-दर्भभार परिष्कारकर्प्याङ्गुष्ठतर्ज्जन्यौ निर्नखे अमूतामेव, इत्यङ्गुष्ठतर्ज्जनीपीडां नाटयति।

रघुः—सस्मितम् अपरतः ?

विदूषकः—पूर्वपीड़ां नाटयन्नेव । अपरतःपुनरद्य चित्रदर्शनोत्कण्ठया तन्मनस्कतया समागमने पथि परिपतिततूलकणिकाघातेन पुनः पादाऽङ्गुष्ठे पीड़ा समजनि, दृश्यताम् ( इत्यङ्गुष्ठं दर्शयति )

रघुः—तिष्ठ तामहं शमयामि ।

---

शस्त्र सहित राज दरबार के योद्धाओं से घिरे हुए पास में रहने वाले सुन्दर चामर को ग्रहण करने वाले पीछे स्थित छत्र को ग्रहण करने वाले समान अवस्था वाले विदूषक ।

रघु—( प्रवेश कर सिंहासन पर बैठता है )

विदूषक—लँगड़ा होता हुआ लाठी लेकर भी नहीं चलता हुआ ।

दोनो पीड़ित हूँ ।

रघु—सो क्या हुआ ?

विदूषक— एक यह गुरुवशिष्ठमिश्र के आदेश से विश्वजिति महायज्ञ में सङ्कलित दूब का भार परिष्कार कर अँगूठा और तर्जनी का संकेत कर अंगूठा एवं तर्जनी की पीड़ा का अभिनय करते हैं ।

रघु—( मन्दमुस्कान के साथ ) दूसरे से ।

विदूषक—( पूर्वपीड़ा का अभिनय कहते हुए )

पुनः आज चित्रदर्शन की उत्कण्ठा से अनमन एकता से आने पर रास्ते में परिवर्तित तूल कणिका घात से पैर के अँगूठे की पीड़ा उत्पन्न करता है । देखें । यह अंगूठा को दिखाता है ।

रघु—ठहरो उसको मैं शान्त करता हूँ ।

विदूषकः--हन्त ! भो ! यज्ञचित्रावलोकनकुतूहलिनो मे तद् विना किमप्यन्यन्न भाति, तद्विलम्बः कुतो विधीयते ? मम तु नेत्रयोस्तदर्थं खर्ज्जूर्भवति ।

मन्त्री--( चित्रं निर्योज्य निर्वर्णयन्मूर्द्धानं धुनानः ) दृश्यतान्देव !

यथैव चित्रकारेण युद्धचित्रं विनिर्मितम्
चित्रं यज्ञस्य तेनेदं तथैव रचितं पुनः ।१३६।

( निर्दिश्य ) देव ! दृश्यतामियमस्ति विशाला हवनशाला, एतास्तत्र समुल्लसन्ति तास्ता यज्ञसामग्र्यः ।

प्रतीहारी--( प्रविश्य ) जयति जयति महाराजः ( इति नत्वा करौ सम्पुटीकृत्य श्रीमन् ! वरतन्तुमहर्षेः शिष्यः कौत्सनामा प्रथमाश्रमो सम्प्रति द्वाःस्थो निवेदयति सम्राजमाशिषाऽभिवर्द्धयामीति ।

रघुः--( मन्त्रिणं प्रति ) मन्त्रिन् ! आस्तान्तावद्ये चित्रदर्शनम्--

भवन्ति सङ्ग्राह्यनिदेशवाक्याः
प्रतिक्षणं मान्यतमास्तपस्विनः
न तत्पुरस्तात्किमपीतरा कृतो-
रघोस्तदर्थोपहृताऽत्मनः सदा ।१३७।

निर्निष्ककोषजातोऽयं जातो यस्य कृते रघुः
चित्रम्पुनस्तदग्रे स्याद्विचित्रं वद कीदृशम् ।१३८।

तदिदानीं चित्रोत्सवं परित्यज्य मुनिमद्येदयातिथ्यमहामहोत्सवः सम्पादनीयः । तद्द्वारपाल ! शीघ्रं प्रवेशय वर्णिराजम् ।

---

विदूषक--खेद है हे ! यज्ञचित्र के दर्शन की उत्कण्ठा से मुझे उसके विना सुशोभित नहीं होता । तो विलम्ब कहाँ है ।

मन्त्री--( चित्र की भोजनकराक ठीक से देखकर मूर्धान देता है । )

देखें । जैसे चित्रकार ने युद्धचित्र का निर्माण किया । उसी प्रकार यज्ञ का चित्र रचा जाय ।१३६।

( निर्देश देकर ) देव ! देखें यह विशाल हवनशाला है एवं ये यज्ञ सामग्रियाँ हैं ।

प्रतिहारी--( प्रवेशकर ) महाराज की जय हो ( यह कहकर नमस्कार कर कर दोनों हाथों को जोड़कर ) श्रीमन् ! वरतन्तु महर्षि का शिष्य कौत्स नामक ब्रह्मचारी इस समय द्वार पर स्थित है ।

रघु--( मन्त्री के प्रति ) मन्त्री ! चित्रदर्शन आदेश वाक्य को मानकर प्रतिक्षण तपस्वी सन्तुष्ट होते हैं । तो इस समय चित्रोत्सव को छोड़कर अतिथि महोत्सव का सम्पादन करना चाहिए । तो द्वारपाल ! शीघ्र प्रवेशकर वर्णिराज ! ।१३७।

प्रतीहारी--यथाज्ञापयति देवः। ( इति गच्छति )

रघुः--( समन्त्रिविदूषकः कौत्सप्रत्युद्गमनयोतिष्ठति आगते कौत्से तं प्रत्युद्गत्य साष्टाङ्गं प्रणमति।

कौत्सः--( आशीर्मुद्रया )

चिरञ्जीव महाराज ! महाराज्यस्य शासनम्
कुर्वतस्ते यशोगाथां गायन्तु त्रिदशाङ्गनाः।१३९।

( इति सरयूदत्तं श्वेतकमलं राज्ञेऽर्पयति )

रघुः--तदञ्जलौ लात्वा मूर्द्धनि संयोज्य कौत्सं राजभवनमानीय पाद्यं पाद्यं पाद्यम्।

मन्त्री--सजलं मृद्भाण्डं भृत्यकरान्नीत्वा ) इदमस्ति पाद्यम्. गृह्यतां देव ! ( इति राजकरेऽर्पयति )

रघु--( कौत्सस्य पादौ प्रक्षालयन् )--

यथा वेदविदः पादे रजः संक्षालयाम्यहम्
तथा मे राजकार्यस्य क्षालितं तद् भवेद् ध्रुवम्।१४०।

कौत्स--रजसा मिश्रितं राज्यकार्यं कुर्वन्विदाम्वर
करोष्यमिश्रितं तत्तत्किमिह क्षालितं भवेत्।१४१।

रघुः--अर्घ्यमर्घ्यमर्घ्यम्।

मन्त्री--( अपरमृद्भाण्डे तद्गृहीत्वा ) इदमर्घ्यं दीयतां देव ! ( इत्यर्घ्यं राजकरे प्रयच्छति )

---

प्रतीहारी--जैसी आज्ञा हो महाराज की ( यह कह कर जाता है )

रघु--( मन्त्री सहित विदूषक कौत्स के प्रति आते हुए ठहरता है ) आने पर कौत्स आकर साष्टाङ्ग प्रणाम करता है।

कौत्स--( आर्शीवाद की मुद्रा में )

चिरञ्जीव महाराज ! महाराज का शासन। यश की गाथा को गायें देवताओं की स्त्रियां।१३९।

( सरयूदत्त श्वेत कमल को राजा को देता है। )

रघु--हाथ जोड़कर मस्तक में सटाकर कौत्स को राजभवन में लाकर पैर धोए, पैर धोए, पैर धोए।

यह पैर धोने वाला जल ग्रहण करें देव ! ( यह राजा हाथ से अर्पित करता है )

रघु--( कौत्स के पैरों को धोते हुए )

हे वेदज्ञ जैसे आपके पैर के धूलि का नाश करता हूं। उसी प्रकार मेरे राजकार्य की नाश करें।

रघुः—( तदर्पयन् )

अर्घ्यं समर्प्यते तेऽद्य सेवायां प्रथमाश्रमिन् !
भवन्तमेतत्सन्तर्प्य प्रजावल्लीं प्रतर्पयेत् ।१४२।

कौत्सः—

प्रजावल्ली सालवाला सवृतिः सपरिष्कृतीः
त्वयैव सुकृता राजन् ! संसिच्य फलमण्डिता ।१४३।

रघुः—आचमोयमाचमनीयमायमनीयम् ।

मन्त्री—(तद्गृहीत्वा ) इदमाचमनीयम् ( इतिआचमनीयम् अर्पयति )

रघुः—( तदर्पयन् )

आत्मनः शान्तिकार्यार्थंमिदमाचमनीयकम्
दत्तं प्रजाव्रजे शान्ति समर्पयतु मे व्रतिन् ! १४४।

कौत्सः—

स्वयं शान्तिस्वरूपोऽसि यदि राज्यसुशासक !
त्वञ्चेत्ततः कुतोऽशान्तेः सम्भवः स्यात्प्रजागणे ।१४५।

रघुः—वस्त्रखण्डँ वस्त्रखण्डं वस्त्रखण्डम् ।

मन्त्री—( वस्त्रखण्डद्वयं गृहीत्वा ) इमे वस्त्रखण्डे गृह्येतां देव ! ( इत्यर्पयति )

---

रघु—( उसको अर्पित करते हुए ) हे ब्रह्मचारी ! आपकी सेवा में अर्घ्य समर्पित करता हूँ। आपको तृप्तकरके प्रजाओं को सन्तुष्ट करूँगा ।१४२–१४३।

रघु—आचमन करें ३ ।

मन्त्री—( उसे लेकर ) यह आचमनी कहकर अर्पित करता है ।

रघु—( उसे अर्पित करते हुए )

हे ब्रह्मचारी ! आपको शान्ति के लिए यह आचमनी देता हूँ। मेरी प्रजा को आप शान्ति दें ॥१४४॥

कौत्स—तुम स्वयं शान्ति स्वरूप हो। यदि राज्य का सुशासक है तो शान्ति रहेगी ही। प्रजागण में अशान्ति कहाँ ! ॥१४५॥

रघु—वस्त्रखण्ड है ?

मन्त्री—( वस्त्र का दो खण्ड लेकर ) ये ब्रह्म खण्ड ग्रहण करें।

देव ! ( यह अर्पित करता है )

रघुः—( एकं वस्त्रखण्डं करप्रोञ्छनाय कौत्सकरे दत्वाऽपरेण तत्पादौ प्रोञ्छन् ।

इदन्ते प्रोञ्छितं हस्तपादं पुण्यस्य शेवधे !
दोषं राज्यस्य सकलं प्रोऽञ्छतु प्रतिवासरम् ॥१४६॥

कौत्सः—

दोषोऽस्ति तव सद्राज्ये शास्त्रेर्थे विदुषां मुखे
नाऽन्यत्र, प्रोञ्छनीयः स किमर्थं कथय प्रभो ! ॥१४७॥

रघुः—आसनमासनमासनम् ।

मन्त्री—( आसनं गृहीत्वा ) इदमस्त्यासनम् ( इति समृगाजिनं कुशासनं प्रसारयति )

रघुः—( आसने कौत्समुपवेशयन् )

कुशासनं करोत्वेतत्कुशासनमिदं मम
सुशासनं सदा भूयो भूयः स्थैर्यश्रियाऽन्वितम् ॥१४८॥

कौत्सः—

उपवेशनमात्राय वर्त्तते ते कुशासनम्
राज्ये सर्वत्र तत्किं स्यात्सुशासनमुदीरय ॥१४९॥

रघुः—मधुपर्कों मधुपर्कों मधुपर्कः ।

मन्त्री—( मधुपर्कं गृहीत्वा अयं दीयतां देव ! मधुपर्कः ( इत्यर्पयति )

---

रघु—एक वस्त्र खण्ड को हाथ पोछने के लिए कौत्स के हाथ में देकर दूसरे उसके पैरों को पोछते हुए !

यह हाथ-पैर पोछने वाले वस्त्र से राज का सम्पूर्ण दोष पोछें प्रतिदिन ॥१४६॥

कौत्स—तुम्हारा दोष हो तुम्हारे राज्य विद्वानों शास्त्रार्थ में अन्य जगह नहीं पोछना चाहिए ॥१४७॥

रघु—आसन है ३

यह कहकर कृष्णमृग चर्म, एवं कुशासन पसारता है ।

रघु—( आसन पर कौत्स को बैठाते हुए )

मेरे कुशासन को कुशासन न करें सुशासन करें ॥१४८॥

कौत्स—बैठने मात्र से तुम्हारा कुशासन है । राज्य में सभी जगह सुशासन ही है ॥१४९॥

रघु—मधुपर्क ३

मन्त्री—( मधुपर्क लेकर ए लें राजा ) मधुपर्क यह अर्पित करता है ।

रघुः—( तमर्पयन् )

मधुपर्कपयोदोऽयं भवतीव प्रजावनौ
सदा पुष्टिसुधाधारां वर्षेत्त्वदनुकम्पया ॥१५०॥

कौत्सः—

पुष्टिपङ्करुहं फुल्लं समुल्लसति भूपते !
प्रजासरस्यामस्यान्ते नीतिरीत्यम्भसि स्वयम् ॥१५१॥

रघुः—धूपो धूपो धूपः ।

मन्त्री—अयमस्ति धूपः ( इति धूपं राजकरेऽर्पयति )

रघुः—( सभृत्यकृतघण्टानादं धूपं कौत्सस्याग्रे भ्रामयन् )

उद्गच्छद्धूपधूमोऽयमुपेत्य भवदन्तिकम्
स्वर्गस्थितान्मम पितॄन्पावयिष्यति पावनः ॥१५२॥

कौत्सः—

तव धर्मप्रभावेण पावितं भुवनत्रयम्
कथा कैवास्ति राजेन्द्र ! पितॄणाम्तर्हि ते वद ॥१५३॥
त्वयैतेन महाराज ! पितृभक्तिः प्रदर्शिता
संसारेऽस्मिन्सारभूता धन्यधन्योऽस्युदारधीः ॥१५४॥

रघुः—गौर्गौर्गौः ।

मन्त्री—( निर्दिशन् ) इयमस्ति धेनुः ( इति हस्तसङ्केतेन कौत्सं धेनुं दर्शयति )

---

रघु—(उसको अर्पित करते हुए)पूजारूपी जंगल में मधुपर्क की वर्षा हो ॥१५०॥

कौत्स—कीचड़ में उत्पन्न कमल सुशोभित हों। नीति एवं रीति के जल में खिलें ॥१५१॥

रघु – धूप ३

मन्त्री—यह धूप है। ( यह धूप राजा के हाथ में अर्पित करता है। )

रघु—नौकरों के साथ धण्टे की ध्वनि करते हुए धूप को कौत्स के आगे घुमाते हुए ) धूप का धूआँ उपर को जाय आपके समीप अतिथि एवं पिता को पवित्र करे ॥१५२॥

कौत्स—तुम्हारे धर्म के प्रभाव से तीनो लोक पवित्र हो गया।

आपके हे राजेन्द्र ! आपके पितरों का क्या कहना ॥१५३॥

हे महाराज ! आपने पितृभक्ति दर्शादी है। इस संसार में सारभूत चीज है उदारता ॥१५४॥

रघु—गो गो गो।

मन्त्री—( निर्देश देते हुए ) यह गाय है। यह हस्त सङ्केत से कौत्स को गाय दिखाते हुए )

रघुः—( साञ्जलिः )

सवत्सा धेनुरेषाऽस्ति तामेनां प्रथमाश्रुमिन् !
गृहाण कर्म भवतो येन सम्पूर्णतां श्रयेत् ॥१५५॥

अतः परं वद ब्रह्मन् ! स्वं योग्यं सेवनं मम
एष ते पादपद्मस्य चछायायामस्म्यहं स्थितः ॥१५६॥

( इति प्रणम्य कौत्सचरणधूलिं शिरसि धारयित्वा धरारोपितजानुयुग्मः साञ्जलिस्तदभिमुखमुपविशति ।

कौत्सः—नन्वयोध्याधीश ! स्वमासनमलङ्क्रियताम्, उदाह्रियतां पुनः स्वस्मिन्नमात्ये सुहृदि कोषे राष्ट्रे दुर्गे बले पौरश्रेण्यां षाड्गुण्ये शक्तित्रये नैतिकत्रिवर्गे कोशदण्डजप्रभावे उपायचतुष्ठये च सर्वतः कौशलम् ।

रघुः—( स्वासनं उपविश्य ) यत्र भवादृशानाञ्चरणपङ्के रुहच्छत्रच्छायाऽस्ति, तत्र किं कौशलप्रश्नस्य नामाऽपि ।

विभूषयति शैलस्य शिखरं पूष्णि पूर्वतः
प्रकाशप्रश्नवृत्तान्तः कीदृशः स्यात्तपोधन ! ॥१५७॥

कौत्सः—ॐ शान्तिः ।

रघु—सुस्नातक ?

---

रघु—( हाथ जोड़कर )

हे ब्रह्मचारी ! यह बछड़ा सहित गाय है । जिसकी छत्रच्छाया में मैं हूँ । ( यह कहकर प्रणाम कर ) कौत्स चरण की धूलि को उसके शिर पर धारण कर वाकर पृथ्वी पर घुटना टेककर प्रणाम करना हुआ ।

कौत्स—हे अयोध्या के स्वामी ! बैठें ।

आपके मंत्री, राजकोष, राष्ट्र, दुर्ग, सेना, शक्तित्रय, नीतिवर्गादि सब ओर से कुशल तो हैं ।

रघु—( आसन पर बैठकर ) जहाँ आप के चरण कमल की छाया है । वहाँ कुशल प्रश्न का नाम क्या ?

कौत्स—शान्ति । रघु—सुशिक्षित ।

अद्याऽस्ति कोशलपुरी परिपूतभूमि-
रद्यैव राज्यविटपो फलवान्मदीयः
अद्यैव जन्म सकलं सफलञ्च जातं
यद्दर्शनं भवति भूसुरभूषणस्य ॥१५८॥

अद्यैव विहितो मन्ये मया विश्वजिदध्वरः
यद्दिव्यं दर्शनं जातं सद्यः संसारपावनम् ॥१५९॥

भासुर ! भूसुर ! वर्णिन् ! स त्वं प्राप्तोऽस्यसौ हुतो वह्निः
यस्य मया क्रतुराजे ज्वाला मालायिता दृष्टा ॥१६०॥

तदथ—

साम्राज्यसूचीसुमकण्टकाग्रै-
रत्यन्तसञ्छिन्नमुखाऽक्षिपक्षः
पिपासुरस्त्याऽऽशु मधुव्रतोऽयं
मुखारविन्दस्य वचोमरन्दम् ॥१६१॥

उदीरयाऽतः प्रथमं विशिष्य
कच्चिद् गुरोस्ते कुशलं समस्ति
यश्चन्द्रमाः शिष्यहृदन्धकार-
हारी निजाध्यापनचन्द्रिकातः ॥१६२॥

कौत्सः—राजन् ! यत्र सकलमङ्गलकारणं करुणावरुणालयः कौशलेशो भवान्विजयते, तत्र राज्ये निवसतः कस्य न कौशलं किम्पुनर्गुरुचरणानाम् ।

---

आज अयोध्या नगरी पवित्र हो गयी । आज राज्य रूपी अटवी फलीभूत हो गयी । आज सबों का जन्म सफल हो गया । आपके दर्शन से ही यह सब फल हुआ । आज ही लगता है । मैंने विश्वजिति यज्ञ किया । आपके दिव्य दर्शन से सभी पवित्र हो गए । सूर्य, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, अग्नि ये सभी यज्ञाग्नि की ज्वाला से माला की तरह देखे गए ॥१५८–१६०॥

मुख रूपी कमल में वाणी मरन्द के समान है ॥१६१॥

क्या आपके गुरु कुशल से हैं ? जिनके अध्यापन रूपी चन्द्रिका से अज्ञानान्धकार दूर हो गया ॥१६२॥

कौत्स—राजन् ! जहाँ कौशल के स्वामी हैं । वहाँ सबों का कुशल हैं, फिर गुरु के चरणों का क्या ?

रघुः—अपि प्रवर्द्धते तपस्तपस्विन् ? अपि तदुपयोगिनो दर्भ-दूर्वाकुसुम-कास-क्षुप-नीवार-वाराः समृध्यन्ति ? अप्यवन्या वन्या वा पशवस्तान्नमृशन्तो भवेयुः ? अप्याश्रमपार्श्ववर्त्तिनो वृक्षा वीरुधश्चगलपुष्पसम्पदा विभूषयन्त्याश्रमभूमिम् ? अप्यध्यापयतः कुलपतेरङ्कमलङ्करोति रोमन्थमभ्यस्यन्मृगशावकः ?

कौत्सः—राजति राजते राजनि भवादृशे सर्वम् ।

रघुः—अपि पटवो वटवः सस्वरश्रुतिपाठेन प्रतिदिनमुत्कर्णीकुर्वन्तो भवेयुः शष्पं चरतो हरिणान् ।

कौत्सः—कथं न स्यादेवं श्रुतिसेविशिरोमणौ भवादृशे धरणीमणौ ?

रघुः—कच्चित्सन्ति नित्यनियमसम्पादका जलाशयाः सुस्फीतजलकह्लार-कोकनद-कुशेशयाः ? तपः स्वाध्यायसाधनं परमपि कच्चिदर्वाधनं विद्यते तपस्विजन-वनम् ?

कौत्सः—अखिलमेव वर्त्तते सुस्थितं सुस्थिते श्रीमति ।

रघुः—भगवन् !

वीतस्पृहाणां महतां मुनीनां
प्रयोजनप्रश्नकथा वृथाऽस्ति
तथाऽपि लोकव्यवहारमात्रं
पदोः पुरस्तादुपदीकरोमि ॥१६३॥

कार्यं किमाचार्यमहोदयाना-
माहो ! महात्मन्भवतः स्वकीयम्
कृपातरङ्गः कथमन्यथा स्यात्
कूलातिगः पुण्यसुधार्णवस्य ॥१६४॥

---

कौत्सः—वेद पाठ से ब्रह्मचारी उत्कण्ठित होते तो हैं ।

रघु—हरिण घास चरते तो हैं ।

कौत्स—वेद सेवियों के शिरोमणि पृथ्वी के भूषण क्यों नहीं कुशल होगा ।

रघु—जलाशय में नित्य नियम के सम्पादक कुशल तो हैं । तपस्या ही तपस्वियों का धन है ।

रघु—भगवन् ! स्पृहाविहीन ( वीतरागी ) मुनियों का कुशल पूछना बेकार है फिर भी लोक व्यवहार है ॥१६३॥

आचार्य महोदय का क्या कार्य ? अमृत समुद्र में कृपातरङ्ग है । पुण्यतट है ॥१६४॥

अथवा अलमेतेन प्रश्नेन, सेवको हि प्रभूणां पुरो निजकर्त्तव्यप्रश्नमात्रेणैव कृत-कृत्यः सम्प्रतिमात्रं तदनुकम्पापात्रं भवति, अत एतावदेव भूदेवास्ति निवेदनं यत्—

वसुन्धराया वलिसद्मनो वा
स्वर्गस्य किम्वा विषमस्थलेऽपि
तपोधनानां कृतये वृतोऽस्ति
रघुः सहस्रांशुकुलप्रसूतिः ॥१६५॥

कौत्सः—( स्वगतम् ) हन्त ! राजर्षेरस्य सत्कारावसरे मृत्पात्रेण पाद्यादि-दानेन, तदीयकथाप्रसङ्गावगततद्विश्वजिद्यज्ञकर्तृत्वेन च ज्ञातमभूद् यत्—अयं राजा साम्प्रतं यज्ञे वितीर्णवित्तः स्वशेषधितो मदर्थितार्थातिसर्जने नितरामसमर्थोऽस्ति, परन्तु वनदेवदम्पत्योरत्रत्यविद्यालयच्छात्रस्य भगवत्याः कलिन्दकन्यकायाः कथनेन राज्ञो वचनक्रमेणाचार्यचरणानां क्रोधावेशप्रसङ्गेनाऽपि मुखपङ्कजनिर्गलितेन 'कुबेर एव त्वदर्थे दीनारान्वर्षिष्यति' इत्यमन्दमरन्दनिस्यन्देन च पुनः प्रतीयते यदयं कुवेरादपि धन-मानीय मह्यं दिशेत्, अस्तु, अलमेतावताऽनल्पसङ्कल्पविकल्पलतिकाप्रतानेन, सर्वथा सर्वावस्थायां स्वकर्त्तव्यकरणं संसारसरणिशरणम्, तदनुसारेण तदिदानीं मयाऽयं राजा तथाऽऽलपनीयो यथा मदर्थिताऽर्थपूरणे सुदृढप्रतिज्ञः स्यात्, तज्ज्यन्ति गुरुपदारविन्दानि, जयतो वनदेवदम्पती, जयति जननी सरयूः, जयति च जगतीनाथः(प्रकाशम् प्रभो ! सदृश-मेतद्वचनं भवादृशस्यौदार्यपाथोनिधेर्धनार्थनायागते मयि याचके, परन्तु—

---

प्रभु के सामने सेवक प्रश्न से ही कृतकृत्य हो जाता है। रघु सूर्यवंशी हैं। तपोधनियों के लिए व्रत ही सबकुछ है। वसुंधरा ही स्वर्गस्थली है ॥१६५॥

कौत्स—( मन ही मन ) खेद है। राजर्षि के सत्कार के अवसर में मिट्टी के पात्र से जलादि के दान से कथा प्रसङ्ग से विश्वजित यज्ञ करने से जाना कि ये राजा इस समय यज्ञ में विस्तृत धन वाले हैं। ये अतिथि सेवा में समर्थ हैं।

परन्तु वनदेव दम्पत्ति यहाँ आकर विद्यालय छात्र के भगवती के कलिन्द कन्या के कहने से राजा के वचन के क्रम से आचार्य चरणों के क्रोधावेश प्रसङ्ग से भी मुख कमल के निकलने से कुबेर ही आपके धन के दाता होंगे।

यह अमरन्दमरन्द के निष्यन्द से पुनः प्रतीत होता है। जब यह कुबेर से भी धन लाकर देगा। उसके अनुसार इस समय मेरे द्वारा इस राजा का आज्ञा का पालन होना चाहिए। मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा पूरी होगी। माता सरयू की जय हो। जगतीनाथ की जय हो। ( प्रकट रूप से ) स्वामी !

क्षीणोऽधुना त्वं मखसम्विधाने
सत्पात्रवृन्दार्पितवित्तवृन्दः
प्रकाण्डमात्रेण नरेन्द्र ! स त्वं
नीवारवत् सम्प्रति भासि भूयः ।१६६।

रघुः—भगवन् ! मन्येऽहं मन्युसमाप्त्यनन्तरं श्रोत्रियवितीर्णनिष्कनिवहः सम्प्रति निष्काञ्चनीभावं भजन् यावज्जीवं काञ्चनं नो कदाऽपि स्प्रक्ष्यामि, काञ्चन-सदृशनवीनमृद्भाण्डेनैव सकलपात्रव्यवहारं साधयिष्यामीति कृतसङ्कल्पस्तेनैव निखिल-पात्रव्यवहारसाधनव्रतं धारयन्नस्मि, यदेतत्प्रत्यक्षपरिकलितं तत्रभवता । परन्तु नहि सद्योभवत्प्रदत्तप्रत्यभिवादनकल्पद्रुमोऽप्यहमिवास्ति निष्काञ्चनः, तच्चरणारविन्दार्पणेन मय्यनुकम्पाविधाननवनिधे ! निर्दिश कं ते निदेशं शिरसि सन्धारयतु रघुः ।

कौत्सः—

दशाऽन्तरं त्वन्नृप ! सम्प्रपन्ना-
त्कालो न योग्योऽस्त्ययमर्थनस्य
विलङ्घ्य वेलां समुपागतस्य
ममार्थिनोऽत्यर्थं धनेच्छुकस्य ।१६७।

तदिदानीं राजन् ! प्रभूतप्रदानवशान्निष्काञ्चनतायाः परां काष्ठां समुपेतो भवान्सर्वजनसंतुत्योऽस्ति प्रातिपदश्चन्द्रः, तमेनं भवन्तं परमधर्मतः प्रजाव्रजमवन्तं केवलं तमिव नमस्करामि, न पुनर्निष्कलङ्कं कलङ्कयितुमिच्छामि, ततोऽधुना श्रीमन्तमत्रैवन्तं विहायाथ परं कञ्चित्काश्यपोर्पतिं गुरुदेयदक्षिणां याचितुं शरणीकुर्वन्निजभाग्यधेयं परीक्षिष्ये ( इत्युत्थातुं प्रवृत्ते कौत्से न्द्धस्तं गृहीत्वा, समुपवेशयन् ) शान्तम्, भूमाप-धेय ! भूमुख्रतिन् शान्तो भव ( उपविष्टे तस्मिन् )

---

यह वचन—

आप यद्यपि धनहीन हैं, तथाऽपि फल काट लेने पर नीवार के ठंठ की तरह सुशोभित हो रहे हैं ॥१६६॥

रघु—भगवन् ! क्रोध समाप्ति के पश्चात् इस समय धनहीन हो गया हूँ । जब तक बचूंगा, तब तक सोना विहीन रहूँगा । सोने के समान नवीन उद्भाण्ड की तरह सम्पूर्ण पात्र का व्यवहार करूँगा ।

कौत्स—हे राजन् ! समयविनाकर मैं धनेच्छु आया हूँ, इसीलिए ऐसी दशा है ॥१६७॥

तो इस समय हे राजन् ! धनविहीनता की चरमसीमा पर आप हैं । आप सभी लोगों के द्वारा पूज्य हैं । प्रतिपदा के चाँद की तरह उसे प्रणाम है । निष्कलङ्क को कलङ्कित करने की इच्छा करता हूँ । गुरु के लिए दक्षिणा देने के लिए आया हूँ ।

रघुः—नन्वपूर्वप्राघुणिक ! किमित्यभूताऽनुक्ताऽश्रुतमसमञ्जसं श्रावयति भवान्, नाऽद्याऽवधि रघोर्द्वारि समुपागतस्य याचकस्य कस्यचिद् वेला विलङ्घिता किम्पुनर्भवादृशस्य, हन्त ! किं ब्रवीषि ? कथमहं भवतो नमस्कर्त्ता नमस्कार्यः स्याम् ?

एतत्पुनः परमसम्बद्धं यत्—कलङ्काऽपहर्ताऽपि भवताऽहं कलङ्कितो भवेयम्, मुने ! यदि वाऽस्तु भवद्याचनीयं धनं गरीयसोऽप्यतिगरीय एव, तथाऽपि जीवति रघावयोध्यातो निष्फलीभूय तदर्थमन्यशरणीकरणवार्त्ता शशशृङ्गायिता भेकजिह्वायिता कच्छपीदुग्धायिता वा मन्यतां प्रोच्यतां कियदस्ति याचनीयं धनम् ?

कौत्सः—अलमलमतिव्यथनेन कथनेन हन्त !—

ग्रीष्मे भीष्ममरीचिमालिजटिलज्वालानिपीताऽम्भसि
भृङ्गालीकलहंससारसकुले पाथः परं संश्रिते
शैवालव्रजमञ्जुकञ्जकुमुदव्राते श्रिते शुष्कतां
स्नातुं पातुमथावलोकितुमपि प्राप्नोति कोऽर्थी सरः ।१६८।

अस्यां परिस्थितौ तस्माद् भूमीभूषण ! याचना
न याचना भवतो हा ! किन्तु राजन् ! कदर्थना ।१६९।

न नीरदं चातकोऽपि कोऽप्यहो ! याचते जलम्
निःशेषनिः सृतजलं धवलं शरदागमे ।१७०।

हा ! कष्टं मृण्मयं भाण्डमर्घ्यपात्रं भवादृशः
हन्तैतम्मां प्रयाणाय प्रेरयत्यस्तु ते शिवम् ।१७१।

( इति कथयित्वोत्थाय निर्गन्तुकामे कौत्से दण्डकमण्लूद्धृतवति झटित्युत्थाय तत्करं गृहीत्वा )—

---

कौत्स—अधिक कहने से क्या लाभ ? खेद है ! ग्रीष्म ऋतु के भयङ्कर किरणों की माला से जटिल ज्वाला के निपीत जल में भौरों के समूह कलहंस एवं सारस के समूह आश्रित हैं ।

इस परिस्थिति में याचना करना ठीक नहीं । चातक भी जलविहीन मेघ से कुछ नहीं माँगता है । हा खेद है । मिट्टी के वर्तन में अर्घ्यदान । मैं प्रयाण करता हूँ आपका कल्याण हो ॥१६८–१७१॥

रघुः—हन्त ! प्रथमागतप्रथमाश्रमिन् ! किमिति मदग्रे—मद्यावध्यभूतपूर्वयाचकविधिं व्यवहरति भवान् ? समास्यतां मा प्रस्थीयताम्, नेदं भवन्मात्रस्य प्रस्थानम्, इदं सिन्धुमर्यादाया अपि प्रस्थानम्, इदं धराया धारणशक्तेः प्रस्थानम्, इदं ध्रुवस्य स्वाधारस्थितिध्रौव्यस्योत्थानम्, इदमहो ! मद्वंशमूलस्य भगवतो भास्वतः पश्चिमाशोदयः, तन्मेदं कुसाहसं कार्षीः समास्यतां ब्रह्मन् ! अहो इमन्ते प्रयातुमुद्यतस्य मालिन्यराहुग्रस्तमाननभास्वन्तं पुना राहुमुक्तं करिष्यत्येव रघुरिति निश्चितं विज्ञायताम्, अर्थिनस्ते कोशलतः पराङ्मुखीभूय निवर्तनस्य स्वप्नमपि माद्राक्षीज्जगती । अयि निगमनिधे ! वद समस्तश्रुतिपारावारपारदृश्वनः कुलपतेः सदृशः शिष्यः कौत्सोऽयोध्यातो नैराश्यनदीष्णः सन् वदान्यान्तरं गत इत्ययं जीवत एव रघोः कृते कीदृशो भवेदुदन्तः कलङ्ककालिमास्पदम् ? कथय किं तादृशकलङ्ककालिम्नाऽद्य सद्यः श्वेतसूर्यान्ववाये रघुरेव कृष्णीकर्तुं योग्यः ? किं रघुरेव शतवज्रपातस्येव तादृशकलङ्कस्य व्यथां सोढुं जनिं गृहीतवान् ?

कौत्सः—नहि नहि, क एवं वक्तुं शक्नुयात् ?

रघुः—तदिह मद्वचनं हृदि धीयतां
जिगमिषा ऽऽशुविदाम्वर ! हीयताम् ।
तव मुने ऽहमहो । मलिनीभवन्-
मुखसरोजमुदीक्षितुमक्षमः ।१७२।

ततः—समाप्त विद्याव्रत एष वर्णिन् ।
भवानथो किं गुरुदक्षिणाऽर्थम् ।
समागतोऽस्त्यद्य वदेति तत्त्वं
तत्त्वं न कष्टं तव दृष्टियोग्यम् ।१७३।

---

रघु—खेद है ।

पहले आए हुए हे ब्रह्मचारी ? मेरे आगे पहले याचक की तरह याचना करते हो । मैं स्वप्न में भी नहीं देखा था, कि मेरे द्वार से याचक लौटेगा ।

हे सम्पूर्ण शास्त्र समुद्र के पारदर्शी कुलपति के शिष्य के समान हैं । रघु के लिए यह पहला लोकापवाद होगा । पवित्र सूर्यवंश को मैं कलङ्कित करने वाला हूँ ।

कौत्स—नहि-नहि कौन ऐसा कह सकता है ?

रघु—आप जाने की योजना छोड़े ।

मेरी बात मानें । मेरे मुख सरोज ( कमल ) को मलिन न करें ॥१७२॥

हे ब्रह्मचारी ! सम्पूर्ण विद्याएँ समाप्त कर आप गुरु को क्या देंगे ? यह कहें ॥१७३॥

कौत्सः—उपविश्य ( राजन्युपविष्टे ) हुं राजन् ! परिसमापिता मया गुरुमुखाऽरविन्दनिश्चूतंद्वचोनियममधुरमरन्दसन्दोहे स्वं मिलिन्दयता विद्याः व्रतमत्यखण्डं सहैव समापितम्, अथ दक्षिणैव दातव्याऽस्ति गुरवे चिरादभिलषिता प्रतिज्ञाता च ।

रघुः—अतीव शोभनं कृतं यत् सव्रतं विद्योपार्जिता, व्रतस्नातयैव हि हृदिन्तरिक्षे विद्योतते विद्याविद्युत्, एतन्मे महदभाग्यं यद् विद्या व्रतोभयस्नातकाय गुरुदेयदक्षिणार्थमर्थीभूय समागताय भवतेऽर्थमर्पयन्नहमहो ! स्वं स्वं राज्यं पितृंश्च पावयिष्यामीति, परं कियत्यस्ति दक्षिणा दातव्येव्युदीर्यताम् ।

कौत्सः—( नीचैर्मुखः )

यावन्नृपाऽस्ति गुरुदेयमदः किमर्थं
व्यर्थं मुखाद्वहिरहो ! नु समानयेयम् !

रघुः—हन्ह ! हन्त ! वर्णिन् ! किमिति भवान्मुखं नीचैर्विधाय रघो रघुवंशस्यैव वा मुखं नीचैः करोति ? किमिव चाऽतितुच्छं गुरुदेयधनपरिमाणं गोपयन् रघुवंशस्यैव कीर्तिं गोपयति । पा

कौत्सः—( मुखमुत्थाप्य ) सत्यमेतत्, किन्तु राजन् !

---

कौत्स—( बैठकर ) ( राजा के बैठने पर ) राजन् ! १४ विद्याओं को मैंने समाप्त की है । अब १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रा देनी है ।

रघु—अत्यन्त अच्छा ही किया मैंने विद्योपार्जित हृदयअन्तरिक्ष में विद्यारूपी बिजली सुशोभित है । मेरा भाग्य है कि विद्या और व्रत दोनों से स्नातक जो गुरुदक्षिणा माँगने मेरे यहाँ आए हैं ।

आपको कुछ देते हुए मैं अपने, राज्य को एवं पितर को पवित्र करूँगा ।
लेकिन कितनी और क्या दक्षिणा देनी है ?

कौत्स—( मुख नीचे करके ) जब नहीं ही मिलेगा तो मुख से बाहर निकालना बेकार है ।

रघु—खेद है ! ब्रह्मचारी ! आप अपना मुख नीचे करके रघुवंश का मुख नीचे क्यों कर रहे हैं ?

अत्यन्त तुच्छ परिमाण वाली दक्षिणा को छिपाकर रघुवंश की कीर्ति को क्यों छिपा रहे हैं ?

कौत्स—( मुख उठाकर ) यह तो सत्य है, किन्तु राजन् ! इस बुरी परिस्थिति को देखकर मुझे साहस नहीं हो रहा है ।

एतां विलोकय दुरर्थपरिस्थितिं स्वां
माऽऽवेशवेशवशगो भव भूप ! भूयः ।।

रघुः—तपोधन ! विश्वजिता खलु यज्ञेन केवलं रघोः स्वराजधान्या एव कोषः परिक्षीणो न पुनर्भवत्या जगतीत्रय्या अपि ।

तदधुनाऽपि विभो ! वसुधातले
स्थितरघौ किमिदं प्रतिभाषसे ?
सुखमना भव मा कुरु संशयं
कथय देयधनं गुरवे कियत् ।।

कौत्स—धन्योऽसि वदान्य ! धन्योऽसि, क एवान्यः कथयेत् ? परं शिथिलीभूता जिह्वा न प्रचलति, यत इतोऽस्ति मे वार्ता दीनारकोटीनाम्, इतो विद्यते विभोरन्यैवार्थिकी समस्या, इयमेतत्संकटमापतितम् ।

रघुः—
नो नोऽस्ति सङ्कटमिदं भवता यदुक्तं
तन्नाम सङ्कटमवश्यमवश्यमेव ।
यत्त्वादृशस्य वदने श्रुतिवादपूतेऽ-
प्यायाति सङ्कटकथा मयि वर्तमाने ।।१७४।।

कौत्सः—धन्यवादः, राजन् ! अयन्तु महोदार्यपाथोनिधेः श्रीमतः कोऽपि कमनीयः कल्लोलो यदस्यां कठिनदशायामपि वसुमतीम् ।

क्षततनुरपि नो सिंहः कथमपि रहयति गजाक्रमणवृष्टिम्
स्वौदार्यं नो वदान्यो गतविभवोऽप्युचिततस्त्यजति ।।१७५।।

रघुः—नो नो नो भगवन् ! यदयं सेवको वदति तत्सत्यमेव मात्रास्ति कश्चित्संशयलेशः, परं मध्ये किञ्चित्प्रष्टुमिच्छामि ।

---

इस समय भी रघु की अच्छी परिस्थिति प्रतिभासित हो रही है । सुखी होऐं कितनी दक्षिणा देनी है । यह कहें संशय मत करें ।

कौत्स—धन्य हैं, धन्य है ! इस प्रकार कहती हुई शिथिलीभूत जिह्वा क्यों नहीं प्रचलित होती है ।

१४ करोड़ स्वर्ण मुद्रा यह दूसरा सङ्कट ही उपस्थित हुआ ।

रघु—आप जो जो कहेंगे वह सङ्कट का कारण नहीं है । मेरे वर्तमान रहने पर सङ्कट क्या ?

कौत्स—धन्यवाद ! इस सङ्कट की परिस्थिति में भी इस प्रकार कहते हुए आप पृथ्वी को पवित्र कर रहे हैं ।

रघु—नहीं-नहीं भगवन यदि सेवक ऐसा कहेगा तो सत्य है कि कुछ संशय है, लेकिन, बीच में कुछ पूछना चाहता हूँ ।

कौत्सः—किन्तत् ?

रघुः—परमः खलु दयालुः श्रूयते श्रीमानाचार्यवर्यः ?

कौत्सः—अथाऽपि भवादृशेन दुर्वहं गुरुदक्षिणाऽर्पणभारं प्रदाय भवन्तं स भ्रमितवान् ?

कौत्सः—न स प्रदत्तवांस्तद्भारम्, न वा स भ्रमितवान् ।

रघुः—कस्तर्हि ?

कौत्सः—स्वयमेवाहं भारं नीत्वा भ्रमामि ।

रघुः—एवन्तर्हि स्वयमेव भवान्गुरुदक्षिणादानाभिलाषी समभवत् ?

कौत्सः—न खल्वभिलाषिमात्रमभवम् ।

रघुः—अथ ?

कौत्सः—अयमहमासं तदाग्रहग्रही ।

रघुः—तदपि भक्तुमर्हति, किन्त्वाचार्येण गुरुतमा तव गुरुभक्तिर्न्न गणिता ?

कौत्सः सर्वथा गणिता, तदर्थमहं तेनशतधा प्रतिषिद्धः ।

रघुः—तत्किं न मानितं भवता ?

कौत्सः—न मानितम् ?

रघुः—अस्तु तर्हि तिस्रश्चतस्रो वा कोट्यो दीनाराणां दक्षिणैव तु दातव्याऽस्याचार्यं महोदयाय ?

कौत्सः—हन्त ! राजन् ! दीनाराणां चतुर्दशकोट्यः सन्ति समर्पणीयाः ।

रघुः—तावदेव किमस्ति वस्तु, परमिदं पृच्छामि किं तावती संख्या नियताऽस्ति?

कौत्सः—बाढम् ।

रघु—कथमित्थं जातम् ?

---

कौत्स—लेकिन

रघु—आचार्य अत्यन्त दयालु हैं ।

कौत्स—आपके उपर दुर्वह गुरुदक्षिणा का भार देकर आपको दिग्भ्रमित किया ।

रघु—तो । कौत्स—नहीं केवल अभिलाषा मात्र ही ।

रघु आचार्य के द्वारा गुरु भक्ति नहीं गिनी गयी ।

कौत्स—लेकिन सौ बार रोका ।

रघु—क्या आपने नहीं माना । कौत्स—नहीं माना ।

रघु—तीन या चार करोड़ स्वर्ण मुद्रा गुरुजी को दें ।

कौत्स—खेद है राजन् ! १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रा समर्पण करने योग्य है ।

रघु—किस संख्या में दक्षिणा देनी है ।

कौत्स—बहुत ।

कौत्सः—अहो ! ( इति पश्चात्तापमभिनीय ) तदित्थं प्रभो ! जातं श्रूयताम्—सव्रताध्ययने मम परिसमाप्ते समुपस्थिते समावर्त्तनसमये खल्वाचार्यवर्येण शतधा प्रतिषिद्धोऽप्यहं दुराग्रहग्रहदशाऽन्वः पतितः सन्—यदा तत्कथनं स्वविचारतः परमहृद्व्यथनं न मानितवांस्तदा तेन प्रभूतोद्भूतकोपतः कामपि कोकनदलीलामाकलयद्भ्यां नयनाभ्यां मदधीतचतुर्दशविद्यासमसङ्ख्यककोटिमितदीनारदक्षिणादानाऽर्थमन्वशासिषितराम् ।

रघुः—एषोऽस्ति तत्रभवतो वृत्तान्तः ? अस्तु तद् भगवन् ! समस्ता पृथिवी भुवनत्रयमेव वा तु महर्षिणा न याचितम्, यदर्थं मया चिन्तनीयमपि स्यात्, किन्तु दीनारचतुर्दशकोटिमात्रमेव महर्षिणा याचितमस्ति ।

मुने ! स्वल्पायाससाध्या-अतिसाधरणीयं भावत्की याचना, तावन्मात्रस्य कृते कुतः श्रीमानागमनकष्टं कृतवान् ? द्वित्रानाश्रमस्य शैक्षान्वटून् समीपवर्तिनः कस्यचिन्नगरस्य ग्रामस्यैव वाऽध्यक्षं राजपुरुषं प्रति प्रेषयित्वा तद्द्वारैवेमां वार्त्तां किं न वेदितवान्भवान् ? येनायं सेवकस्तदा स्वयमेवागत्याचार्यचरणकमलयोरत्रभवता सहैव स्वं मिलिन्दायमानं पश्यन्नतिहृष्टो भवेत्, अहह विद्याव्रतस्नातकशिरोमणेस्तत्रभवत एतावन्मात्रस्य धनस्य निमित्तमतितुच्छस्य रघोर्द्वारि समागमनकष्टं कष्टं ददाति ।

कौत्सः—सहस्रशो धन्यवादः, राजर्षे ! महती खल्वासीन्ममार्थिकी समस्या, दर्शनञ्चासीत्सम्राजो भूयसः समयादपेक्षितमिति न तथा मया कृतम्, स्वयमेवागत्याशिषाऽभिर्वर्द्धितवानस्मि ।

रघुः—( किञ्चित्कालं विमृश्य 'दयालुशिरोमणिर्ममाचार्यः' इति कौत्सकथनं

---

कौत्स—अहो ( पाश्चाताप का नाटक कर ) तो इस प्रकार प्रभो ! सुनें—चौदहों विद्याओं की परिसमाप्ति की उपस्थिति में समावर्तन समय में आचार्य को मैंने गुरुदक्षिणा के लिए दुराग्रह किया । उन्होंने मुझे सैकड़ों बार मना किया लेकिन, मैंने नहीं माना उन्होंने क्रुद्ध होकर १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रा देने को कहा ।

रघु—यही है आपकी कहानी क्या ? तीनों भवनों की याचना तो उसने नहीं की मैंने बहुत सोचा था किन्तु मात्र १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रा की याचना की है ।

मुनि ! कम प्रयास से ही अधिक चीजों की प्राप्ति यही याचना । आप आने का कष्ट किए मात्र इतने ही द्रव्य के लिए । अन्य ब्रह्मचारी को ही भेजकर मँगवा लेते आप विद्या एवं व्रत में स्नातक हैं । इस तुच्छ धन के लिए कष्ट दिए ।

कौत्स—हजारों बार धन्यवाद; महती आर्थिकी समस्या है ।

रघु—कुछ समय विचार कर दयालुओं के शिरोमणि आचार्य हैं ।

स्मृत्वा ) अहो ! सत्यमुदीरितं भवता 'दयालुशिरोमणिर्ममाचार्यः' इति, परन्तु भवतोऽपि मयि तस्य दयालुता समधिकाऽस्ति यतः—

सर्वस्वदाने विहितेऽपि यज्ञे
न शान्तिमाप्ताऽस्ति मदीयदित्सा ।
महर्षिणा सा मयि सेवकेऽस्मिन्
प्रपूरिता सत्करुणाऽर्णवेन ।१७६।

( हर्षातिशयं सूचयन् स्वगतम् ) अहह !

श्रुत्यम्बुनाथवरतन्तुमहर्षिशिष्यो-
विद्याव्रतेत्युभयतो नितरां पवित्रः ।
मद्भागधेयवशतोऽत्र ममागतोऽस्ति
शिष्योऽद्भुतः कुलपतेः प्रथमाश्रमीन्द्रः ।१७७।

तज्जयति मे कुलमूलवैवतं भगवान्नभस्तिमान् ( इति क्षणं तं ध्यायति )

कौत्सः—( ध्यानसमाप्तौ रघुं हर्षरोमाञ्चकञ्चुकितं वीक्ष्य )

यः क्षोणीचक्रवालं ललितगति परिक्रामति स्वैर्मयूखैः
सर्वस्थाने प्रकाशं रचयति च दिवारात्रिमात्रेण शश्वत् ।
अत्यन्ताश्चर्यशक्या तदपि न च कदाऽपीषदप्येति खेदं
वेदं लक्ष्मीदसेवं सुरनरदनुजैः सेवितं तं श्रयामि ।१७८।

---

( यह कौत्स के कथन का स्मरण कर ) अहो ! ठीक ही कहा आपने दयालुओं के शिरोमणि मेरे आचार्य हैं ।

परन्तु आपकी भी दयालुता मेरे ऊपर है ।

यज्ञ में सर्वस्व दान देने पर भी मुझे उतनी शान्ति नहीं मिली जितनी आपके आगमन से ।१७६।

( हर्ष की अतिशयता को सूचित करते हुए मन ही मन )

अहह महर्षि वरतन्तु के शिष्य ! आप विद्या एवं व्रत दोनों से अत्यन्त पवित्र हैं । कुलपति के आप अद्भुत ब्रह्मचारी में श्रेष्ठ हैं ।।१७७।।

( भगवान सूर्य का ध्यान करता है । )

कौत्स—( ध्यान समाप्त होने पर ) ( रघु को हर्ष और रोमाञ्च से चकित देखकर )

उस सूर्य भगवान को प्रणाम है, जो अपनी किरणों को सम्पूर्ण विश्व में बिखेरते हैं । दिवा एवं रात्रि के कारण हैं । जो देवता एवं दानवों के द्वारा सेवित हैं ।।१७८।।

( इति राज्ञा सहैव सूयं नमस्कृत्य ) राजन् ! यस्य कुलमूलं स सविता देवस्तस्य ते सदृशमेतद्वचनम्, विजितं भवतौदार्यपाथोनिधिना भुवनत्रयमेव, परमस्यां भवत्परिस्थितावपि यद्येतावानार्थिको भारः संशयापन्नसमुद्धो भवद्विधाय राजर्षये मया दातुमिष्येताऽपि, तत्कथय कोऽन्यो मादृशो दुर्विनीतोऽविचारशिरोमणिरर्थी स्यात् ? हा ! हा ! त्वादृशधार्मिकधुरन्धरवतीं भगवतीं जगतीं स्वैतावच्छु रथिताभारेण व्याकुलीकर्त्तारं महापापिनं मां धिक् ।

हन्त ! नरपते ! तद्देहि मे वसुमतीचङ्क्रमणेन चरणयुगं चटुलयितुमेवाथ निदेशम् 'कार्यं वा साधयेयं प्राणान्वा पातयेयम्' इति कथयन्सदण्डकमण्डलुरुत्थाय गन्तुमुद्यतो भवति ।

रघुः—( उत्थाय तत्करं गृहीत्वा )

प्राणा यावदिमे भवद्विधकृपाप्रोत्साहिताः सन्त्यहो !<br>
देहेऽस्मिंस्थितिमाप्य सेवनविधौ साहाय्यभाजो मम ।<br>
कोषो यावदथोऽस्ति गुह्यकपतेः पूर्णोऽलकायां पुनः<br>
स्तावत्सम्पतिता भवेयुरहहा ! प्राणाः कथं त्वादृशः ।१७९।

कौत्सः—सर्वं सत्यम् भवादृशाः प्रभवः किं न कर्तुं प्रभवः, तथाऽपि ( इत्यर्द्धोक्ते तूष्णींस्थितः )

रघुः—स्वामिन् ! मैवं मौनमवलम्बस्व ।

---

( इस प्रकार सूर्य का नमस्कार कर ) राजन् ! जिनका वचन देवता के समान है ।

आपके जैसे धार्मिकों में अग्रगण्य लोगों को जन्म देने वाली पृथ्वी मुझ जैसे पापी को रखी थी । मैं उस पृथ्वी का भार हूँ ।

खेद है राजन् ! हे वसुमति ! मैं कार्य करूँगा या शरीर को नष्ट कर दूंगा । दण्ड कमण्डलु उठाकर जाने के लिए तैयार है ।

रघु—( उठाकर उसे हाथ में लेकर )

कौत्स—सब सत्य है । आपके जैसे राजा क्या नहीं कर सकते हैं । फिर भी ( आधा बोलकर चुप होकर ठहर गया )

रघु—स्वामि ! मौन मत होएं ।

यदि पतापत एव भवेद्ध्रुवः क्षितिधरो यदि वाऽस्तु चलाचलः ।
न वचनात्प्रचलेत्सुववावद-श्चरणसेवक एष तवप्रभो ! ।१८०।

विजिता ब्राह्मणस्याऽर्थे देवस्यार्थे च भूमिपाः
अथेदानीं स्नातकार्थे राजराजोऽपि जेष्यते ।१८१।

आकर्णयन्तु धरणीजलवायुतेजोव्योमानि वासवमुखश्च दिगीशवृन्दम् ।
यावन्न वर्णिधनमेतदुपानयामि तावन्न राजभवनं समुपाश्रयामि ।१८२।

( धनुरुत्थाप्य )

नो चेद् यदि व्रतधरोत्तमनायकस्य देयं धनं धनदतोऽहमिहानयामि ।
तच्चापमेतदपि नैव करे दधामि त्रेधा करोमि शपथं विपथं न यामि ।१३८।

( इति धनुर्ज्याध्वनिं मुहुःकुर्वन्नुच्चैः ) मन्त्रिन् ! कस्कोऽत्र भोः ?

मन्त्री—( पुरो भूयाऽञ्जलिं बद्ध्वा ) देव ! नन्वनुशासनमात्रं प्रतीक्षे, समादिश्यताम्—किम्

तामद्याऽपि पुरःसरां प्रविदधे प्रोश्चैस्तरां नु प्रभो !
सेनां या ककुभां जये नगरतः सन्निःसृतासीत्तदा ।
सोत्कण्ठं कुतुकेन दैवतकुलैरालोकिता व्योमतः
सोत्साहा चतुरङ्गिणी नगरगैर्लोकैः पुरस्तात्कृता ।१८४।

रघुः—इतोऽस्ति मयि वर्णिनः शुभसमागमाऽनुग्रह-
स्तदीयगुरुदेयतत्सुधनयाचनोच्चैः कृतः ।
इतो विजयतेतरां कुलगुरुः स चिन्तामणि-
स्ततोऽपि किल वाहिनी वद बलाधिका तेऽस्ति किम् ? ।१८५।

---

ब्राह्मण, देवता राजा एवं स्नातक के लिए राजा के राजा को भी जीतेंगे ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आप सब सुनें जब तक इन ब्रह्मचारी को धन नहीं दूंगा तब तक राजभवन नहीं जाऊँगा ।१८१–१८२।

( धनुष उठाकर ) कुबेर को जीतकर धन लाकर दूंगा ।१८३।

( इस प्रकार धनुष का स्फालन करते हुए ) मन्त्रिन् ! कौन-कौन हैं यहाँ हैं ?
मन्त्री ( सामने फिर अंजलि बाँधकर ) देव ! मात्र शासन की प्रतिक्षा करता हूं । आदेश दें क्या ?

रघु—इधर है ब्रह्मचारो

तत्पृतनानायक ! नाऽस्यापूर्वाश्रमिणो गुरुदेयदीनारानयनकार्यस्य कृते विद्यते प्रयोजनं पृतनायाः, साम्प्रतमेव सुसज्जीक्रियतामाचार्यवर्याऽमोघमन्त्राभिमन्त्रितः सर्वत्राव्याहृतगतिरसौ मे विमानराजः, श्व एव रघुस्तत्रभवतः कार्याऽर्थं कैलासयात्रां कर्त्ता।

सेनापतिः—प्रभो ! चतुर्विंशतिहोराः संसाव्यैव संरक्ष्यतेऽसौ विमानराजः, ( सारथिं प्रति ) ननु सारथे ! समानीयतां सत्वरं सः।

सारथिः—एष आनीत एवाऽस्ति ( इति गत्वा सखड़खड़ाशब्दं विमानं समानयति )

रघुः—( वीक्ष्य ) अयमसौ विमानराजः समायात एव ( मन्त्रिणं प्रति ) ननु मन्त्रिप्रवर ! वर्णिराजं तावद्भवनभवने ससर्वसौविध्यं निवासय, सनाथीक्रियतामेनेन यावन्मम कैलासात्कोशलागमनं द्वितीयेनेव भगवता वैश्वानरेण मद्भागभेयेन वा तद्द्वित्राण्यहानि। अहम्पुनरथ विमान एव यामिनीं यापयिष्यामि।

मन्त्रिसेनापती—यदाज्ञापयति कोशलकमलकमलबन्धुः कृपासिन्धुः। जवनिकापातः। सर्वे निष्क्रान्ताः।

षष्ठोऽङ्कः समाप्तः।

---

सेनापति—स्वामि ! २४ घण्टा तक यह विमान की रक्षा करें।

( सारथि के प्रति ) हे सारथि ! शीघ्र लावें।

सारथि—यह लाया है। ( यहं जाकर खड़खड़ा शब्द विमान लाता हैं।

रघु—( देखकर ) यह यह विमानराज आया। ( मन्त्री के प्रति )

हे मन्त्री श्रेष्ठ ! इसके द्वारा सनाथ होवेंगें। कैलाश से कौशल आगमन दूसरे भगवान अग्नि ( दो तीन दिन )

मैं पूनः रथ ( विमान ) तैयार करूंगा।

मन्त्रिसेनापति—जैसी आज्ञा कौशल के कमान बन्धु कृपासिन्धु।

परदा गिरता है। सभी निकल जाते हैं।

( षष्ठाङ्क समाप्त )

# सप्तमोऽङ्कः

स्थानम्—कैलासे कुबेरस्य राजधान्यां विचारभवनम्, समयः प्रदोषाऽनन्तरं रात्रिः, तत्र सिंहासनोपविष्टोऽतिचिन्ततः कुबेरः ।

तत्र उपमन्त्रिसहितः—

प्रधानमन्त्री—( प्रविश्य ) जयति जयति महाराजः ( इति प्रणम्य साऽञ्जलिस्तिष्ठति )

कुबेरः—ननु मन्त्रिणौ ! स्वंस्वमासनं किं न सेव्यते ?

उभौ मन्त्रिणौ—कुबेरं नमस्कृत्योपविशतः ।

बृहस्पतिः—( सर्वैः प्रणतः प्रविश्योपविश्य, कौत्सदेयगुरुदक्षिणादीनारग्रहणाय सङ्ग्रामयितुं रघोरागमनं श्रुत्वा भयेनातिचिन्तितौ मलिनमुखौ मन्त्रिणौ राजानञ्च चिन्तितं वीक्ष्य )

आहो !

> अद्य मन्त्रिमुखाम्भोजेऽन्यादृशी दृश्यते प्रभा
> ततःपूर्वतनीं कान्ति नोपैति श्रीदसत्सभा ।।१८७।।

ज्ञातं मया सर्वं वृत्तान्तम्;, परं सचिवौ ! कुतश्चिन्त्यते, धनेशस्य सचिवौ स्थः, धनार्थमेवागमिष्यति दिलीपसुपुत्रो रघुः, राजन् मा चिन्तय

---

स्थान—कैलाश में कुबेर की राजधानी से विचार भवन, समय प्रदोषकाल के बाद रात्रि वहाँ सिंहासन पर बैठे चिन्तित कुबेर ।

वहाँ उपमन्त्रिसहित

प्रधानमन्त्री—( प्रवेशकर ) महाराज की जय हो, जय हो ( इस प्रकार प्रणाम कर अञ्जलि बाँधकर )

कुबेर—दो मन्त्री अपने अपने आसन पर क्यों नहीं बैठते हैं ? दोनों मन्त्री—( कुबेर को नमस्कार कर बैठते हैं । )

बृहस्पति—( सभी नत होकर प्रवेश और बैठकर कौत्स को गुरुदक्षिणा देने के लिए सङ्गम करने के लिए रघु का आगमन सुनकर भय से अत्यन्त चिन्तित मलिन-मुख वाले दो मन्त्री और राजा चिन्तित देखकर । )

कुवेरः—( भीतः सन् ) आचार्य ! अतीव किङ्कर्त्तव्यताविमूढोऽस्मि ।

वृहस्पतिः—कुतः किंकर्त्तव्यताविमूढो भवसि ?, धनदोऽसि, धनार्थमागतं रघुं धनमर्पयित्वा निवर्त्तयिष्यसि ।

कुवेरः—धनमनर्पयित्वैव निवर्त्तयिष्यामि चेत् ?

प्र० मन्त्री—हुं हुं स चेदत्रात्य सङ्ग्रामयेत, तदस्मद्दिव्यास्त्रलीलाच्छिन्नभिन्नविग्रहः पलायिष्यते कृतान्तमन्दिरं वा प्रवेक्ष्यति ।

वृहस्पतिः—मन्त्रिन् ! प्रमत्तोऽसि किम् ? न विदितो वा तदीयो विश्वविख्यातः पराक्रमक्रमः ?

प्र० मन्त्री—आचार्य !

क्व देवो देवगणनागण्यो गुण्यो धनाधिपः

क्व चासौ मनुजो मन्दबुद्धिरद्धा विपद्गतः ।१८८।

बृहस्पतिः— नृशब्दस्य सप्तम्यां रूपम्

अन्यस्मिन्नरि मानुष्यं परिगण्यताम् यत्सत्यं

एतस्मिंस्तत्तु निःशङ्कं त्रिदशत्वं सुभण्यताम् ।१८९।

उपमन्त्री—आचार्य !

संसारश्रुतसेवधेर्निरवधेर्वित्तस्य काऽप्यद्भुता

कीर्तिः किन्नरनायकस्य परमोऽप्यस्त्युत्तमा शूरता ।

तस्मान्मे नहि भीतिरस्ति किमपि श्रीमंस्ततो दीयता-

माशीर्मात्रमपेक्षतां प्रभुवरो धैर्यं समालम्बताम् ।१९०।

---

हे ! आज मन्त्री का मुखकमल अन्य प्रकार का दिखाई पड़ रहा है । हे प्रभो । मैंने सब वृतान्त जाना लेकिन सचिव ! कहाँ से सोच रहा है । कुवेर और सचिव है । धन के लिए ही आएगा ।१८७।

दिलीप के पुत्र रघु राजन् मत चिन्ता करें ।

कुवेर—( डरता हुआ ) आचार्य ! अत्यन्त किंकर्त्तव्य विमूढ़ हूँ ।

वृहस्पति—क्यों किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो ?

तुम कुवेर हो धन के लिए आए हुए कुवेर को धन देकर निपट लोगे ।

कुवेर—क्या उन अर्पण कर ही निपटूंगा ?

प्रधानमन्त्री—यदि नहीं तो युद्ध करेगा ।

दिव्यास्त्र से शरीर को छिन्न-भिन्न कर भाग जाएगा या यमराज के मन्दिर में प्रवेश कराएगा ।

वृहस्पति—मन्त्रि ! पागल हो क्या ?

नहीं क्या जानते हो उसके विश्वविख्यात पराक्रम को ?

वृहस्पतिः—अनुरूप एव मन्त्रिण उपमन्त्र्यसि यदवं तत्प्रलापमनुसरसि, उपमन्त्रिन्! यावत्तस्याश्चर्यंवीर्यस्य रघोर्विचित्रा पराक्रमघटना तव चेतःपदवीं नोपैति तावदेव तावक एषोऽनुभवः, श्रूयतां भोः! पुराऽसौ स्वयौवराज्य एव पैत्रिके हयमेधे हयमपहरन्तंमघवन्तमपि निजयुद्धकौशलेन वरदीकृतवानासीत्।

प्र० मन्त्री—आर्चार्य?

यदिति यद्गुणगौरवमालिका
भवति भूरि भवन्मुखगुम्फिता।
अथ कृतिः किल तत्र विचिन्त्यते
न महताऽप्यसमञ्जसमुच्यते।१९१।

वृहस्पतिः—त्यज्यतामेतद् विषये प्रतीकारस्य चिंताऽपि द्रुतं दिलीपसूनोर्विश्वजिन्महामन्युना परिक्षीणः कोषो दीनारैर्भ्रियताम्।

दौवारिकः—(करौ नियोज्य) विजयतां महाराजः देव! तत्रभवान् देवर्षिः समुपस्थितोऽस्ति।

कुवेरः—अहो! भगवान्नारदः?

वृहस्पतिः—आगच्छतु, समये खलु देवर्षिः सदैव समागमप्रसादेन समर्पयति किमपि सौख्यं सेवकेभ्यः।

प्र० मन्त्री - दौवारिक! सवेगं समानय भगवन्तम्।

दौवारिकः—यथाज्ञापयति (इति गच्छति)

(ततः प्रविशति करकलितललितस्फटिकजपमालोऽनुगणसविवोऽनुरणत्वीणापाणिर्नारदः।

---

वृहस्पति—अनुकूल ही विचारते हैं हे मन्त्रि क्या प्रलाप बकते हो। रघु के पराक्रम की विचित्र घटना है पहले अपने युवराज के पैत्रिक अश्वमेघ यज्ञ में घोड़े अपहरण करने वाले इन्द्र को भी अपने युद्ध कौशल से वरदीकृत किए थे।

वृहस्पति—इसे मानव मानव कहते हैं। इसे तो देवता ही कहें। उससे मुझे कुछ भय नहीं कुछ श्री मान दें।

मात्र आशीर्वाद की अपेक्षा है धैर्यावलम्बी बने।

वृहस्पति—इस विषय में प्रतीकार की चिन्ता को छोड़े। विश्वजिति यज्ञ करने वाले दिलीप के पुत्र रघु क्षीण कोष वाले हो गए है।

दौवारिक—(हाथ जोड़कर) महाराज की जय हो देवर्षि नारद उपस्थित हैं।

कुवेर—क्या भगवन्नारद?

वृहस्पति—आवें कुछ सेवकों का भी सुख समय पर उपस्थित करें।

प्रधानमन्त्री—दौवारिक! वेग के साथ भगवन को लाओ,

दौवारिक—(जैसी आज्ञा) यह कहकर चला जाता है।

स्फटिक की जयमाला लिए वीणा बजाते हुए नारद प्रवेश करते हैं।

कुवेरः—( साचार्य आसनादुत्थाय प्रत्युत्गच्छन्प्रणम्य स्वासने तमुपवेशयति ।
नारदः—( आशीर्मुद्रया कुवेरं प्रति )

आयुष्मान्भव पुण्यन्ते पुलस्त्यकुलदीपक !
आयुषा सार्द्धमनिशं वर्द्धतामलकेशितः ! ॥१९२॥

स्वस्त्यस्तु कथ्यतां श्रीमन् ! सुराचार्य ! स्वकौशलम् ।

वृहस्पतिः—

कुशलं तत्र यत्रैव ब्रह्मपुत्रस्य दर्शनम् ॥१९३॥

( वृहस्पतिं प्रति )

नारदः—सुराचार्य ! इदं मदर्द्धासनमलङ्क्रियताम् ।

( वृहस्पतौ निजपूर्वासने समासीने एव सति कुवेरं प्रति ) कैलासतिलक ! आसनं किन्न सेव्यते स्वकीयम् ?

कुवेरः—( साञ्जलिरुत्थित एव )

स्वामिनोऽग्रे सेवकस्योत्थानमेवोपवेशनम्
नासनग्रहणं किन्तु तवतीव विगर्हणम् ॥१९४॥

नारदः—नहि नहि गृह्यतां स्वमासनम्, इदमपि मद्ध्यासितं राजसिंहासनं राजयोग्यं राजगुरुयोग्यम्वा भवितुमर्हति, मादृशां तपस्विनान्तु कुशकासकिशलयासनमेव सर्वतः श्रेष्ठम् ।

---

कुवेर—( आचार्य के साथ आसन से उठकर जाते हुए प्रणाम कर अपने आसन पर बैठता है ।

नारद—( आशीर्वाद की मुद्रा से कुवेर के प्रति )

पुलस्त्य कुलदीपक आनन्दित हो ।

कल्याण रहे श्रीमन् ! देवाचार्य ! अपना कुशल ।

वृहस्पति—जहाँ ब्रह्मपुत्र का दर्शन हो वही कुशल है ।

वृहस्पति के प्रति नारद मेरे आधे आसन पर बैठें । वृहस्पति अपने पूर्व आसन के ऊपर समासीन होने पर कुवेर के प्रति कैलाश तिलक ! आसन क्यों नहीं ग्रहण करते हैं ।

कुवेर—( हाथ जोड़कर उठकर ही )

नारद—नहिं नहिं अपना आसन ग्रहण करें । यह भी राजसिंहासन के योग राजगुरु के योग्य हो सकते हैं ।

मेरे समान तपस्वी कुश का किसलय आसन तो सबसे श्रेष्ठ है ।

बृहस्पतिः—जगद्गुरौ वर्त्तमाने राजगुरुः कः ?

कुवेरः—( साञ्जलिः ) प्रभो !

मलिनीकृतमेतत्तु राजसिंहासनं मया
कदाचिदङ्घ्रिपद्मानां मरन्दैः क्षाल्यते त्वया ।।१९५।।

नारदः—भवतु, राजन् ! आस्यताम् ( इति कुवेर उपविष्टे ) ननु सुराचार्य ! कथय कथय कुशलं स्वस्य सालकातिलकस्य ।

बृहस्पतिः—

देवर्षेः पादकञ्जीयच्छायाच्छन्नसरोवरे
वरे हंसायमानानां स्थाने नैवाऽस्त्यकौशलम् ।।१९६।।

दिवाऽसौ सुदिवा नूनं निशा सा सुनिशा तथा
देवर्षिदृक्चकोराय जायते यत्र चन्द्रमाः ।।१९७।।

दिवाऽपि शर्वरी तावद् यावद् वै लोचनातिथेः
देवर्षेर्दर्शिनी लीला नाभिवर्षति कौतुकम् ।।१९८।।

पितुर्वैधानिकी सम्पत्स्यौदन्तमयी तथा
सम्पन्नौ स्तो युवां ताभ्यां सम्तद्भ्यां जगतीत्रये ।।१९९।।

नारदः—( सस्मितम् ) वचसाम्पतिः पुनर्वाचिनिकसम्पदा जगत्त्रये जागरूकोऽस्ति ।

कुवेरः—

अर्द्धसञ्जातशस्येऽभूद्वृष्टिर्विगतसम्भवा
निर्द्धने वा धनप्राप्तिर्यत्सुरर्षिरुपागतः ।।२००।।

बृहस्पतिः—देवर्षे !

---

बृहस्पति—जगद्पुर में वर्तमान राजगुरु कौन है ?

कुवरे—हाथ जोड़कर प्रभो !

राजसिंहासह मेरे द्वारा मलिन किया गया है । चरणपद्मों के मरन्द से तुम्हारे द्वारा धोया गया है ।

नारद—( मन्द मुस्कान के साथ ) फिर वचन की सम्पत्ति से तीनों लोकों में जागरूक है ।

बृहस्पति—देवर्षि !

कौतस्कुतेन भुवनं भ्रमता सत्कृपावता
पा ताविदितोऽस्म्यत्रभवता समागत्याधुनो प्रभो ? ॥२०१॥

नारदः—

पातालं प्रथमं प्रगत्य बहुषु स्थानेषु तत्रेच्छया
भ्राम्यन्नागतवांश्च मध्यभुवनं तत्राऽपि कृत्वाऽटनम्
सम्प्राप्तः शिवसद्म पद्मशंदृशे नत्वा तदीये पदे
वृत्तान्तं कमपीह सन्निगदितुं प्राप्तो भवन्तं ततः ॥२०२॥

मन्त्री—अहो ! वृत्तान्तसिन्धुः किल दीनबन्धुः ।

कुवेरः—( सोत्कण्ठम् )

अवसरे वितनोति कृपाश्रियं
प्रकृतिरेव तवाऽस्तिनौतनी ।
तदनुसारमुदन्तममुं प्रभो !
ननु बुभुत्सुरयं तव सेवकः ॥२०३॥

कथय कथय विद्वन् ? कोन्वसावस्त्युदन्तो
रचय रचय शोभामानोऽम्भोरुहस्य ।
जनय जनय लीलां स्वीयवाचः प्रसिद्धां
कलय कलय काञ्चिद् दिव्यमूर्त्तेऽनुकम्पाम् ॥२०४॥

नारदः—शृणु राजन् ! भवेद्विदितं तव न वा—मर्त्यभुवनस्य सम्राड्रघुवरतन्तु-शिष्यकौत्सप्रदेयगुरुदक्षिणानिष्कनिचयाय त्वां विजित्य तव कोषात्तं निष्क्रष्टुं श्व एव समागच्छति ।

मन्त्री—श्व एव समागच्छति ?

नारदः - श्व एव, अद्यैव स सायं कृतनित्यनियमो भवता सह सङ्ग्रामयितुं सशङ्खनादं प्रस्थाय प्रातर्गमनाय सशस्त्रे विमान एवाशयिष्ट ।

---

मन्त्री—हे ! वृतान्त सिन्धु दीनबन्धु ।

कुवेर—( उत्कण्ठा के साथ )

प्रकृति अवसर पर कृपाश्री को बढ़ाती है ।

नारद—सुनें राजन् ! मर्त्य भुवन के सम्राट वरतन्तु शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए कोष को जीतने के लिए कल ही आएँ गे ।

नारदः—कल ही आज ही संग्राम करने के लिए शंखनाद करेंगे ।

कुवेरः—विमान एव ?

नारदः—विमान एव, अत एवाऽहं सङ्गीतविद्यानिरवधिवार्धेः परमगुरोर्भगवतो भर्गस्य प्रदोषकालिकनृत्यविधौ नदन्नन्दिमुरजे महत्या वीणया गानमेकमात्रं विधायासमाप्त एव नृत्ये तं प्रणम्य त्वरितगत्याऽत्रैव समागतोऽस्मि ।

बृहस्पतिः—( विहस्य )

वज्रमैन्द्रं विजानाति वृत्रासुरविघातकम्
रघोर्वीर्य्यं स्वयञ्चाऽपि वेत्ति श्रीमघवानपि ।२०५।

कुबेरः—कीदृशस्तद्भवति भगवतोः प्रसादः ?

नारदः—राजन् ! तव सखा देवस्त्वयि परं प्रसन्नोऽस्ति यद्रघोः कोषे तव धनं यास्यति, तेन पुनर्धनेन परःसहस्रांश्छात्रान्वेदमध्यापयतो महर्षेर्वरन्तोः सकुटुम्बस्य जीविकासम्पत्त्या तस्य परमोपकारो भविष्यति, इदं भवतः परं कर्त्तव्यम् परो लाभः परो धर्मश्च यद्रघोः कोषे तव धनं यास्यतीति ।

राजन् ! इदानीम्पर्यन्तं त्वं शब्दत एव धनाधिप आसीः, अद्यप्रभृत्यर्थतोऽपि धनाधिपो भविष्यसि, यतो वेदेनैव मनुष्याः स्वकीयं सर्वं व्यवहारं विदन्ति अन्यथा ते पशोरपि हीना भवन्ति, तस्मात्तदध्यापकानां पोषणं संसारस्य पोषणं तोषणञ्च ।

---

कुवेर—विमान ही इसलिए में संगीत विद्या के समुद्र के परम गुरु भगवान भर्ग प्रदोषकालिक नृत्यविधि में वीणा के साथ गान विद्या की समाप्ति कर नृत्य में उसको प्रणाम कर शीघ्र यहाँ ही आया हूँ ।

कुवेर—चरण का निर्देश कौन है ?

वृहस्पति—मैंने पहले ही ऐसा कहा था ।

मन्त्री—पूज्यपाद युद्ध के बिना आधा पैसा भी नहीं दूँगा ।

नारद—( जोर से हँसते हुए ) खेद है ।

पाँच पैसा भी नहीं दूँगा ।

वृहस्पति—( हँसकर )

कुवेर—भगवान की कृपा कैसी ?

नारद—राजन् ! तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । खजाने में तुम्हारा धन जाएगा सहस्रछात्रों को वेद पढ़ाते हुए महर्षि वरतन्तु के कुटुम्ब की जीविका सम्पति से उसका

यक्षाधिपते! "नामातपरं किमप्यन्यत्कृत्यं सृष्टौ वर्त्तते" इति वेदचतुष्टयोद्भावकस्य स्वपितुर्मुखान्मया श्रुतम्, ततो मा विलम्ब्यतां रघोः कोषोऽस्यां रजन्यां दीनारैर्भ्रियताम्, स्वकीर्त्तिपताकारोपणं भुवनत्रयवेद्यां विधीयताम्, स्वस्त्यस्तु ते (इति कथयित्वा वीणामनुरणयन्सर्वेषु प्रत्युत्थितेषूत्प्रतस्थे)

कुबेरः—(बृहस्पतिं प्रति) तदाचार्याः!

बृहस्पतिः—इदानीमेव कोषाऽध्यक्षः समादिश्यताम्, मा विलम्बं विधाः, शुभं कार्यं शीघ्रमेव श्रेयस्करं भवति, अथाऽपि विचारः? द्विबंद्धं सुबद्धं जातम्।

कुबेरः—(मन्त्रिणं प्रति) मन्त्रिन्! स्वयमेव गत्वा कोषाध्यक्षद्वाराऽस्मिन्निशीथसमय एवायोध्यायां रघोः कोषे कोषागारप्राङ्गणे च स्वर्णमुद्राणां तावद्वर्षणं विधापयेयविता तत्र चतुर्दशकोटितोऽधिकाऽधिकास्ताः स्युः, प्रस्वापिन्या पुनर्विद्यया तत्रत्याः कोषरक्षकास्तथा प्रस्वापनीया यथा ते गाढ़निद्रालवो भवन्तो मा किमपि बुद्ध्येरन्।

मन्त्री—साधयामि (इति निष्क्रान्तः) जवनिकापातः॥

इति प्र० दृश्यम्॥

---

परम उपकार होगा। यह आपका सबसे बड़ा कर्तव्य है। सबसे बड़ा लाभ, धर्म रघु खजाने में तुम्हारा धन जाएगा।

राजन्! इस समय तक तुम शब्द से ही कुबेर थे। आज से लेकर धन भी कुवेर होगा। मानव अपने सभी व्यवहार को प्राप्त करेंगे। अन्यथा पशु से भी हीन होंगे।

उससे अध्यापकों को पोषण, संसार का पोषण एवं तोषण होगा।

यक्षाधिप—इससे बढ़कर सृष्टि में क्या है? अपने पिता के मुख से मैंने सुना है। तो देर न करें। रघु का खजाना इस रात में अपनी कीर्ति पताका का आरोपण तीनों लोकों में करेगा। आपका कल्याण हो।

(यह कहकर वीणा बजाते हुए सभी उठकर चल देते हैं।)

कुवेर—(वृहस्पति के प्रति) आचार्य!

वृहस्पति—इस कोषाध्यक्ष को आदेश दें।

बिलम्ब मत करें। शुभकार्य शीघ्र करने में ही कल्याण होता है। इसके बाद क्या विचार है?

कुवेर—कुवेर के प्रति मन्त्रिन्! अपने ही जाकर कोषाध्यक्ष द्वार इस रात्रि में अयोध्या में रघु के खजाने में कोषागार प्राङ्गण में स्वर्णमुद्रा के चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रा देनी है।

मन्त्री—साधन करता हूँ। (यह कहकर निकल जाते हैं) परदा गिरता है

प्रथम दृश्य समाप्त

स्थानमयोध्याया राजधान्याः कोषागारप्राङ्गणम् तत्र कुवेरवर्षितदीनाराणां राशिः )

कोषाऽध्यक्षः—( अङ्गुष्ठमूललताभ्यामक्षिणी मर्दयन्, शयनादुत्थित एव प्रविश्य निरीक्ष्य साश्चर्यम् )

अकस्माज्जातेयं कुत इह सुपूर्णा वरचितिः
सतां दीनाराणां कथमिदमभूच्चित्रघटनम् ।
रजन्यां केनेदं कृतमहह ! नूनं प्रवदितं
नृपस्यैवेतिप्राक्कृतसुकृतकृत्यस्य महिमा ।२०६।

भवतु, अथ महाराजस्य वर्णिदेयदीनारानयनाय कैलासप्रस्थानभारो भूयो निवृत्तः ( परितो विलोक्य कस्कोऽत्र भोः ? ( चतुर्दिक्षु निरीक्ष्य ) अरे रे ! सर्वे यामिकाः स्वस्वाधिकारस्थानं एवाद्यैतावत्कालपर्यन्तं प्रसुप्ताः सन्ति ( इत्याह्वयति )

( सर्वे-प्रहरिकाः प्रबुद्धयोत्तिष्ठन्ति तद्दृष्ट्वा साश्चर्याश्च भवन्ति किञ्चिकालं किमिति कुत इति केनेतीत्यादि परस्परालापञ्च चक्रुः )

प्रहरिकप्रधानः—( साऽञ्जलिरध्यक्षं प्रति ) ननु स्वामिन् ! को नियोगः समनुष्ठीयताम् ?

कोषाध्यक्षः—द्वित्रा यूयमिदानीमेव वातरंहसा गत्वा घटनामिमां प्रधानसचिवं विज्ञाप्य पुरस्कारभाजनीभवन्तु ।

विप्राः—( साऽहमहमिकम् ) साधयामः ( इति निष्क्रान्ताः ) जवनिकापातः

इति द्वितीयं दृश्यम् ।

---

स्थान अयोध्या की राजधानी का कोषागार प्राङ्गण वहाँ कुवेर्वषित दीनार की राशि )

कोषाध्यक्ष—अँगूठे की जड़ से पृथ्वी का मर्दन करता हुआ, सोने से उठकर प्रवेशकर एवं देखकर आश्चर्य के साथ ।

( चारों ओर देखकर कौन हैं, कौन हैं हे ) ( चारों दिशाओं में देखकर ) अरे रे यात्रिक अपने-अपने अधिकार स्थान तक सोए हैं । ( यह कहकर बुलाता है )

सभी पहरेदार जागकर रहते हैं । उसे देखकर आश्चर्य करते हैं ) कुछ समय तक बातचीत करते हैं ।

प्रधान प्रहरी—( हाथ जोड़कर अध्यक्ष के प्रति ) स्वामिन् । क्या आज्ञा ?

कोषाध्यक्ष—तुमलोग वेग से जाकर इस घटना को प्रधान सचिव को बताकर पुरस्कार के पात्र हों ।

( साधन करते हैं ) यह कहकर सभी निकल जाते हैं । परदा गिरता है ।

दूसरा दृश्य समाप्त

( स्थानमयोध्याया राजधानी, समयः—उषः, रथस्थः कृतकैलासप्रस्थानः शयनादुत्थाय कृतनित्यक्रियः—

रघुः—विमानवाहक ! सम्प्रति समाप्तनित्यनियमोऽस्मि, अथ अमुड्डायय विमानराजम्, विमानराज ! उड्डीयताम् ( इति प्रणमति )

विमानवाहकः—इदमुड्डीनमेवाऽस्ति विमानम् ( इत्युड्डाययति )

मन्त्री—( विमानोड्डयनशब्दं श्रुत्वा धावन् प्रविश्योर्ध्वमुखः शब्दविस्तारकयन्त्रेण ) हं हो हं हो विमानवाहक ? अवतार्यतामवतार्यतामथ विमानराजः, रजन्यां राजकीयः कोषो दीनारैर्भरितोऽभूदित्यथो नास्ति प्रयोजनं कैलासप्रस्थानस्य ( इति मुहुर्मुहुराह्वयति )

रघुः—( आकर्ण्य ) अये ? क्षणमुपर्येवावरोधय विमानम्, अधस्तः कश्चित् किमप्यालपति, तद्विमानध्वनिना न पूर्णरूपेण कर्णगोचरीकर्तुं शक्नोमि )

विमान वाहकः—( तथा करोति )

मन्त्री—( पुनस्तथैवाह्वयति )

रघुः—( आकर्ण्य ) विमानवाहक ! विमानवाहक ! शृणोषि ?

विमानवाहकः—(तथाकरोति )

रघुः—( अवतीर्य भूमिष्ठे विमाने मन्त्रिणं प्रति ) किं भोः ! किं कोषो दीनारैः परिपूर्णो जातः ।

मन्त्री स्वामिन् ।

न केवलं कोषमात्रं निष्कैरस्ति सुपूरितम्
किन्तु प्राङ्गणमध्येऽपि दीनारस्यास्ति सञ्चयः ।२०७।

रघुः - तदन्नं कुत्सापात्रया प्रणम्य देवतो युद्धाय कैलासयात्रया ।

मन्त्री—

तदर्थमागतः श्रीमन्पारितोषिकहेतवे

---

अयोध्या की राजधानी, रथ पर बैठे हुए कैलाश के लिए प्रस्थान, शयन से उठ कर नियम करके—

रघु—विमान वाहक ! इस समय नियम समाप्तकर लिया हूँ । विमानराज उड़े ( यह कहकर प्रणाम करता है )

विमानवाहक—यह विमान उड़ा कहकर विमान उड़ता है ।

रघु—( सुनकर ) विमान वाहक ? सुनते हो विमान वाहक उसी प्रकार करता है ।

रघु—उतरकर मन्त्री के प्रति क्या खजाना धन से पूर्ण हो गया ?

मन्त्री—स्वामिन्

न केवल ( खजाना ही भरा बल्कि आङ्गण भी पूर्ण हो गया ) ।

रघु—देवता के साथ युद्ध के लिए जा रहा था ।

मन्त्री—पारितोषिक के लिए आगमन हुआ ।

रघुः—युक्तं युक्तं सूक्तन्तावत् ।

कीदृश्यः स्वर्णमुप्रास्ताः सन्ति तद्ब्रूहि सत्वरम् ।२०८।

मन्त्री—

जाप्यं नो खलु जातरूपमपरं दृष्टं मया तादृशम् ।
कुत्राऽपि क्षितिपालवर्य ! तत्तन्मया प्रोच्यताम् ।

रघुः—अपि भवेत्तत्र कस्यचिद्राज्ञो नामाऽप्यङ्कितम् ?

मन्त्री— मया तु विमानोड्डयनमाशङ्कमानेन देवदर्शनोत्कलिकाऽऽकुलतया समुड्डीयैव सेवायां तमागतमिति न तदुपरि किमपि ध्यानं प्रदत्तम् ( स्मृतिमभिनीय ) आः ! स्मृतं स्वर्णसौष्ठवं दर्शयितुं तत एका स्वर्णमुद्रा नीत्वा पार्श्वे संरक्षिताऽस्ति ( इति निष्कास्य पश्यन्ददत् )

दृष्टं देव ? कुवेरनाम लिखितं तत्राऽस्त्यहो दृश्यसाम्

( इत्यर्पयति )

रघुः—( हस्ते गृहीत्वा दृष्ट्वा च ) अये !

विस्पष्टं प्रविलोक्यते धनपतेर्नामाऽस्ति नामाङ्कितम् ।२०९।

( इति मुहुरवलोकयन् ) अहो ! देवमुद्राया दिव्यं सौन्दर्यम्, तन्मन्त्रिन् ! नूनं यक्षराजो रजन्यां तानखिलान्दीनारान्प्रावर्षत्, नाऽन्यथाऽस्ति तन्नामाऽङ्कनस्य सम्भवः ।

मन्त्री—

प्रभावः कोशलेशस्य पुण्यं कौत्सस्य वर्णिनः
ते उभे जालदीं लीलां नूनं जनयतः स्म ताम् ।२१०।

---

रघु— ठीक है, ठीक है बोलें तब तक
कैसी स्वर्णमुद्रा कहें ।

मन्त्री—मैंने ऐसी स्वर्णवर्षा देखी और कही ।

रघु—क्या किसी राजा का नाम भी अङ्कित है ।

मन्त्री—मैं तो विमान से उड़ रहा था । देवता के दर्शन की उत्कण्ठा थी । मैंने उस देवता की सेवा की । इसलिए कुछ ध्यान नहीं दिया ।

( स्मरण का अभिनय कर ) आः याद आई एक स्वर्णमुद्रा देखें राजन्—कुवेर नामलिखित है । यह कहकर अर्पित करता है ।

रघु—( हाथ में लेकर और देखकर ) हे ! स्पष्टदेखा गया कुवेर का नाम अङ्कित है ।

( यह बार-बार देखते हुए ) देवमुद्रा का दिव्य सौन्दर्य । निश्चय ही यक्षराज रात में खजाने में दे दिए हैं । उसका ही नामांकन सम्भव है ।

मन्त्री--कौत्स ब्रह्मचारी के पुण्य का प्रभाव है कि ये लीला उत्पन्न होती हैं।

रघुः—( रथादवतीर्योर्ध्वमुखः साञ्जलिः ) देव ! किन्नरनाथ ! ननु क्षन्तव्यन्ता-वन्मनुष्यस्यास्य परार्थपूरणपरवशस्यायं प्रथमोऽपराधः ( इति नमस्कृत्य मन्त्रिणं प्रति )

त्वरस्व वर्णिवर्याय दातुं दीनारसञ्चयम्
तदर्थमथ सामग्रीघटना प्रतिधीयताम् ।२११।
नागरिका अपि निखिला आकार्याः संसदे क्षिप्रम्
नाऽथ विलम्बनमुचितं शुभकार्या शीघ्रमेव स्यात् ।२१२।

मन्त्री—यथाज्ञापयति देवः ( इति नमस्कृत्य निष्क्रान्तः ) जवनिकापातः ।

॥ इति तृतीयं दृश्यम ॥

( स्थानमयोध्यायां राजकीयकोषगृहप्राङ्गणम्, तत्र कौत्सप्रदानार्थं विशाला सभा, तत्पुरतः फलपुष्पविभूषितो दीनाराणामत्युच्चै राशिः, तन्निकटे कुशासनस्थः कौत्सः, अपर-कुशविष्ठरोपविष्टो रघुः, दर्भासनधृतव्याघ्रचर्मासीनो वशिष्ठः, इतरासनस्थास्तच्छिष्य-निवहाः, यथायोग्यासनस्थिताश्चायोध्यावासिनः । )

वशिष्ठः—( सपुष्पाऽञ्जलिरुत्थाय ) ननु वत्स ! कौत्स ! निखिलनिष्कदक्षिणे विश्वजिद्यज्ञक्षणे परिसमापितेऽथ महाराजः सकामकर्मणो निवृत्तोऽस्ति, तदिदानीं स निष्काममेव निष्कदानं विधित्सति, तत्र च सविधिदानवाक्यं नोपयुज्यत इति तद्विनैव दीयन्त एतावन्तो दीनारास्तुभ्यन्तेन, अतस्तात ! सफलीक्रियतां स राज्ञो मनोरथः पूर्यतां गुरवे दक्षिणार्पणस्य प्रतिज्ञा, सुप्रीयतामसौ ते गुरुर्वरतन्तुः ।

---

रघु—( रथ से उतरकर हाथ जोड़कर ) राजन् ! किन्नर के स्वामी ! यह पहला अपराध है ( नमस्कार कर मन्त्री के प्रति )

सभा में सभी नागरिक शीघ्र सुनें । विलम्ब करना ठीक नहीं शुभ को शीघ्र ही करें ।

मन्त्री—( जैसी आज्ञा हो महाराज की ) ( नमस्कार कर निकल जाता है )

( परदा गिरता है )

( यह तीसरा दृश्य )

स्थान—अयोध्या में खजाने घर में राजकीय वेष में कौत्स को दान देने के लिए विशाल सभा लगी । उसके सामने फल और फूल से सुशोभित खजाने हैं । राजा के सामने आसन पर बैठे हुए हैं । दूसरे कुश पर बैठे हुए रघु । दूसरे चर्म पर बैठे हुए वशिष्ठ अन्य आसन पर शिष्यों के समूह, अन्य आसन पर स्थित अयोध्यावासी ।

वशिष्ठ—( पुञ्जाञ्जलि लेकर उठकर ) पुत्र ! कौत्स । विश्वजित यज्ञ करके

अद्यारभ्य रजस्तमोमलमलं प्रक्षालयंस्त्वात्मनः
स्मारं स्मारमिमां विचित्रघटनां लोकत्रयी भूरि वाम्।
आनन्देन च मे भवेत्पुलकितोऽसौ सृष्टिकर्त्ता पिता
दृष्ट्वा वां निजसृष्टिशेवधिमहारत्नेऽद्भुते वस्तुना ।२१३।

इति कथयित्वा शिष्यद्वयद्वारा कौत्सं रघुमूर्द्धोराशीः कुसुमवृष्टिं कारयति।

रघुः—( उत्थाय वशिष्ठं प्रणम्य तत्कण्ठ एकां मन्त्रिप्रदत्तां वनमालां परिधात्य, द्वितीयाञ्च कौत्सं प्रणम्य तत्कण्ठे परिधात्य करौ सम्पुटीकृत्य तिष्ठति )

वशिष्ठः—( आशीर्मुद्रया )

नव्यं नव्यं सुभव्यं प्रतिदिनममलं वर्द्धतां पुण्यराशेः
स्वच्छा चान्द्री कलेव प्रतिवसमथो राजतान्ते सुकीर्त्तिः।
दीर्घं कालं सुजीव्यास्तव सुकृतिवशाद् भारतन्तेऽद्य धन्यं
धन्यस्ते चाऽद्य बंशस्तदनु च नृपते ? ऽयञ्च तेऽहं पुरोधाः ।२१४।

यादृशः पुत्रवांस्तात ! दिलीपो जनकस्तव
न तादृशः परः कोऽपि राजन् ! जाने जनः क्वचिद् ।२१५।

कौत्सः—उत्थाय वशिष्ठं प्रणम्य तदाशीर्गृहीत्वाऽऽशीर्मुद्रया )

जीव सुजीवन ! सुचिरं सूर्यवंशसत्कुमुदबन्धो !
तव जीवनकौमुद्यै भवतु चकोरी तव प्रजा नित्यम् ।२१६।

तव नामनि सङ्गदिते भवतु सदा पुलकोद्गमः प्रजानाम्
कम्पन्ताञ्च नितान्तं सततमशान्तं तव द्विषां व्यूहाः ।२१७।

---

महाराज सकाम निवृत हो गये। आप अपनी प्रतिज्ञा एवं मनोरथ पूर्ण करें।
लोग इन घटनाओं का स्मरण कर बहुत प्रसन्न होंगे।
ब्रह्मा आनन्दोल्लसित होंगे। अपनी सृष्टि में अद्भुत चीज देखकर ।२१३।

यह कहकर दो शिष्यों के साथ कौत्स रघु को आशीर्वाद देते हैं। ( फूलों की वर्षा करवाते हैं )

रघु—( उठकर वशिष्ठ के गले में माला पहनाकर, इसके बाद कौत्स को प्रणाण कर और दूसरी माला पहनकर ) ( हाथ जोड़कर )

वशिष्ठ—( आशीर्वाद की मुद्रा में ) आपकी पुण्यराशि वढ़े। आपकी कीर्ति बढ़े। भारत धन्य है। आपके वंश धन्य हैं।

कौत्स—उठकर और वशिष्ठ को प्रणाम कर आशीर्वाद की मुद्रा में )
हे सूर्य वंश के कुमुद बान्धव ! प्रजा के जीवन रूपी कौमुदी के लिए आप चकोर हैं ।२१६।

( इत्याशीः प्रददाति )

रघुः—नन्वतिथिशिरोमणे ! यत्किञ्चिदेतत्पत्रपुष्पफलमात्रं श्रीमते समर्प्यते तदेत-दनुगृह्य गृह्यताम्, क्षम्यताञ्च क्षमानिधे ! सर्वदा सागसोऽस्य सेवकस्य सर्वोऽपराधः।

कौत्सः—

पुरुषभूषण ! हंससुवंशसत्-
कमलहंस ! भवद्यशसां चयः।
अतुलितो ललितोऽस्ति महानहो !
तदनुकूलमिदं सुवचोऽपि ते।२१८।

पुष्पवृष्टि-शनैर्जवनिकापतनाभ्यां सहाकाशवाणी—

राजन् ! रघो सुकृतिनाम्वर ! भारतेन्दो !
सद्विप्र ! कौत्स ! गुरुभक्तिशिरोमणे ! वाम्।
आचन्द्रसूर्यमखिलं विमलं चरित्र—
मेतद्विकासमयतां भुवनत्रयान्तः॥

जवनिका-पातः। सर्वे निष्क्रान्ताः।

सप्तमोऽङ्कः समाप्तः।

इति विहार प्रान्तीय "दरभङ्गा" मण्डलान्तर्गत "कलुआही" पत्रालयान्तर्गत "हरिपुर बख्शीटोल" ग्रामीण "वलियासय नरसाम"वंश सम्भवनैय्यायिकप्रवरश्री दुःखहरणमिश्रात्मज नव्यन्यायाचार्य साहित्य शास्त्रि पं० "गङ्गेशमिश्र" निर्मितम्—

गुरुदक्षिणानाटकम्—

समाप्तम्।

---

रघु—हे अतिथि शिरोमणि ! फूल और फल जो कुछ है। वह आप लेकर मेरे अपराध को क्षमा करें।

फूलों की वर्षा होती है। धीरे-धीरे परदा गिरने के साथ आकाशवाणी होती है। राजन् ! रघु ! भारतेन्दो ! ब्राह्मण ! कौत्स ! गुरुभक्तशिरोमणि जब तक सूर्य और चन्द्रमा रहेगा हे रघु तीनों भवनों में आपका विमल चरित्र विकास को प्राप्त करेगा।

परदा गिरता है। सभी निकल जाते हैं।

सप्तम अङ्क समाप्त होता है।

विहार प्रान्त वासी दरभङ्गा जिला के अन्तर्गत "कलुआही" पत्रालय के अन्त-र्गत वलियासव नरसाम वंश में उत्पन्न नैय्यायिकों में श्रेष्ठ श्री दुःखहरणमिश्र के पुत्र नव्यन्यायाचार्य साहित्य शास्त्रि पं० गंगेशमिश्र निर्मित गुरुदक्षिणा नाटक समाप्त हुआ।

इत्यलम्